Catalog

01_3.pdf 1
1_7.pdf 2
2_7.pdf 3
3_7.pdf 4
4_7.pdf 5
5_7.pdf 6
6_7.pdf 7
7_7.pdf 8
8_6.pdf 9
9_7.pdf 10
10_7.pdf 11
11_7.pdf 12
12_7.pdf 13
13_6.pdf 14
14_7.pdf 15
16_7.pdf 16
17_7.pdf 17
18_7.pdf 18
19_7.pdf 19
20_6.pdf 20
21_7.pdf 21
22_6.pdf 22
23_7.pdf 23
24_7.pdf 24
25_7.pdf 25
26_6.pdf 26
27_7.pdf 27
29_6.pdf 28
32_7.pdf 29
33_7.pdf 30
34_7.pdf 31
35_7.pdf 32
36_7.pdf 33
37_7.pdf 34
38_7.pdf 35
39_7.pdf 36
40_6.pdf 37
41_7.pdf 38
42_6.pdf 39
43_7.pdf 40
44_7.pdf 41
45_7.pdf 42
46_7.pdf 43
47_7.pdf 44
48_7.pdf 45
49_7.pdf 46
50_7.pdf 47
51_7.pdf 48
52_7.pdf 49
53_6.pdf 50
055.pdf 51
56_7.pdf 52
57_5.pdf 53

58_7.pdf ····· 53
59_7.pdf ····· 55
60_7.pdf ····· 56
61_7.pdf ····· 57
62_7.pdf ····· 58
63_7.pdf ····· 59
64_7.pdf ····· 60
65_7.pdf ····· 61
67_7.pdf ····· 62
68_6.pdf ····· 63
69_7.pdf ····· 64
70_7.pdf ····· 65
71_7.pdf ····· 66
155.pdf ····· 67

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी

वर्ष–3, अंक–3, अक्टूबर–दिसम्बर, 2010

परमिता

ISSN- 0974-6129

प्रधान सम्पादक :
डॉ. शशांक शुक्ला

सम्पादक :
डॉ. अवधेश दीक्षित

सह सम्पादक:
वागीश राज शुक्ल
बृजेश कुमार यादव
डॉ. राकेश कुमार तिवारी

उप सम्पादक:
सुनील कुमार पाण्डेय
गौरव सिंह
अखिल कुमार राय

कार्यकारी सम्पादक:
अनूप पति तिवारी
डॉ. विकास कुमार सिंह
विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही'

परामर्श मण्डल

प्रो. उमेश चन्द्र दूबे
डॉ. अजय शुक्ल
डॉ. गुरु प्रसाद सिंह
डॉ. इन्द्रजीत मिश्र
प्रो. अशोक सिंह
डॉ. राजीव श्रीवास्तव
डॉ. प्रदीप राव

संरक्षक
प्रो. रामनारायण शुक्ल
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग का.हि.वि.वि.

प्रबंध सम्पादक :
विनय शंकर राय
प्रबोधिनी फाउण्डेशन, वाराणसी

क्षेत्रीय संपर्क एवं प्रसार:
विनय कुमार शुक्ल
सम्पर्क: 9415695663

विशेष संवाददाता : दिलीप कुमार दीक्षित
: राजेश कुमार तिवारी
मुख्य व्यवस्थापक : इन्द्रेश कुमार सिंह
तकनीकी सहयोग : प्रीतिवर्धन दूबे
शब्द संयोजन : तारा शुक्ला
विधि परामर्शदाता : एड. डॉ. प्रमथेश पाण्डेय व नीरज कुमार सिंह

एक निर्णायकमण्डल युक्त शोध–पत्रिका

संपादकीय सम्पर्क
एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी
सामनेघाट रोड, नगवाँ लंका,
वाराणसी (उ.प्र.)-221005
दूरभाष : 09838077923
Email-parmita.com@gmail.com

सम्पादक व प्रकाशक डॉ. शशांक शुक्ला द्वारा एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ.प्र.)-221005 से प्रकाशित तथा मेहरोत्रा ऑफसेट, इंग्लिशिया लाइन, वाराणसी से मुद्रित।

• समस्त पद अवैतनिक, रचनाओं का दायित्व रचनाकारों पर। किसी भी विवाद का जूरिसडिक्शन वाराणसी होगा।

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी

ISSN 0974-6129
वर्ष 3 अंक 3
अक्टूबर–दिसम्बर, 2010
तीस रुपये

परिमिता

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

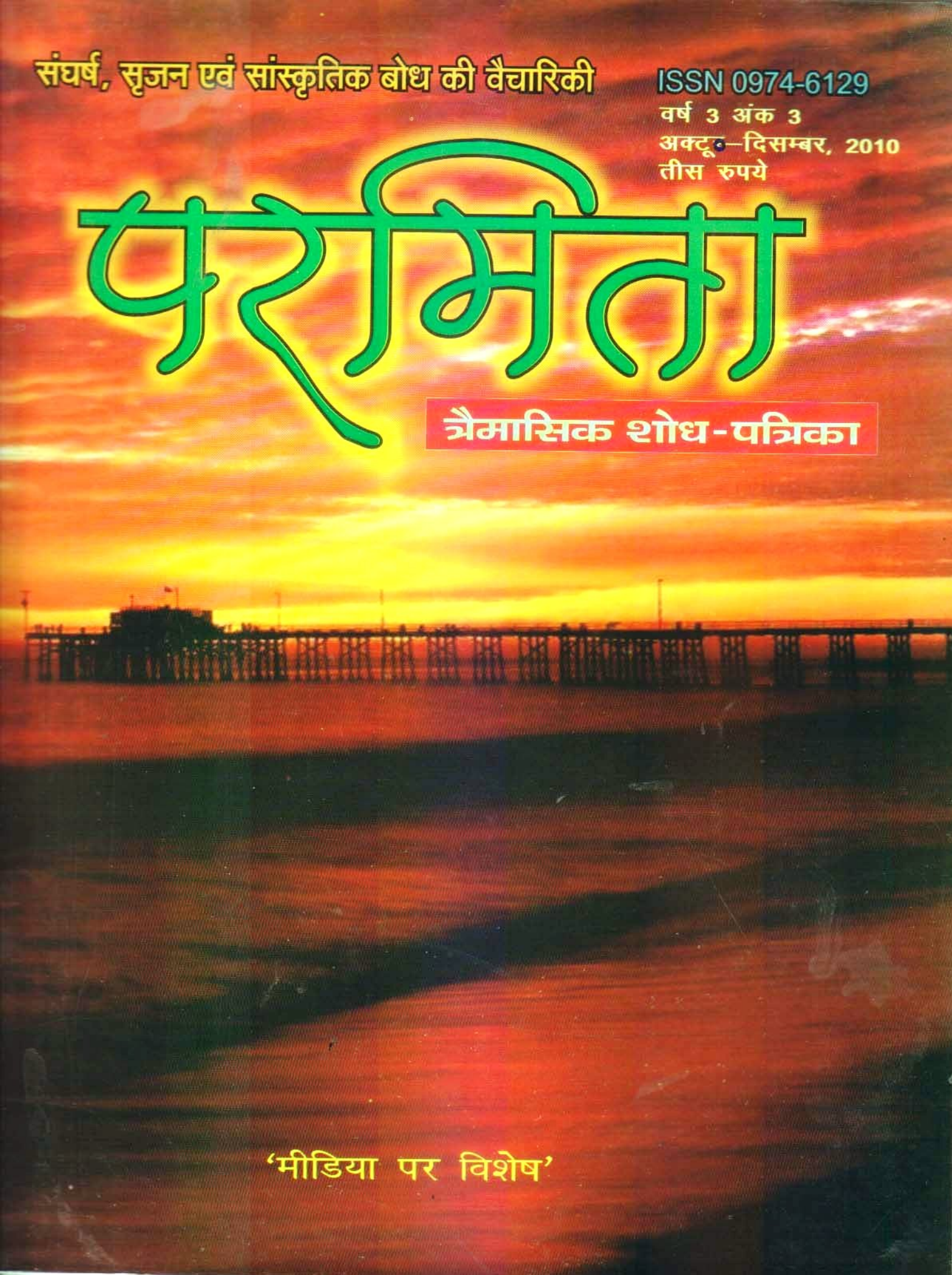

'मीडिया पर विशेष'

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय–

मीडिया की सैद्धान्तिकी		/3

पुस्तक अंश–

यह कौन सा दयार है?	/डॉ. आलोक पाण्डेय	/4

परिचर्चा–

मीडिया, साहित्य और समाज	/प्रो. सुवास कुमार	/8
	/प्रो. ऋषभ देव शर्मा	/9
	/डॉ. आलोक पाण्डेय	/11

विमर्श–

नवजागरणकालीन पत्रकारिता और स्त्री विमर्श	/प्रो. पी. माणिक्याम्बा 'मणि'	/13
हिन्दी मीडिया की भाषिकी	/प्रो. सुवास कुमार	/16

शोध–

भारत में मीडिया कानूनों का विकास	/संतोष कुमार प्रधान	/21
सामाजिक परिवर्तनकर्ता के रूप में मीडिया	/कुमुद सिंह	/23
जनमाध्यमों द्वारा नई पहल की आवश्यकता	/डॉ. प्रमथेश पाण्डेय	/25
समकालीन विज्ञापन कला और वैश्वीकरण	/सौरभ कुमार सिंह	/27
गो–पालन का अर्थशास्त्र : हिन्द स्वराज के सन्दर्भ में	/गुरु प्रसाद सिंह	/28
भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में गाँधी और डॉ. अम्बेडकर का योगदान	/डॉ. ओंकारनाथ पाण्डेय	/31
गाँधी का धर्म विचार	/श्वेता सिंह	/34
नाथ सम्प्रदाय में योग : एक विश्लेषण	/अम्बरीष राय	/36
संजीव की कहानियों में दलित–विमर्श	/विद्याप्रकाश सिंह	/38
मध्यवर्गीय जीवन के अन्यतम चितेरे : निर्मल वर्मा	/डॉ. आलोक राय	/41
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : सरस्वती–सम्पादक के रूप में	/चन्द्रप्रकाश सिंह	/43
संवेदना का स्वरूप और भवानी प्रसाद मिश्र	/श्रीमोहन सिंह	/46
उदात्त की अवधारणा और प्रसाद की कहानियाँ	/अमरेन्द्र कुमार पाण्डेय	/48
समकालीन आधुनिक कला व भारतीय सौन्दर्यबोध	/सुनील कुमार सिंह कुशवाहा	/51
मातृदेवी मृण्मूर्तियों का तकनीकी विकास प्रारम्भ से गुप्त काल तक	/सर्वेश कुमार, सुजीत कुमार सिंह	/54
वैदिक साहित्य में रत्न का उपयोग	/राकेश कुमार शुक्ल	/56
सूर्य देवता का वैदिक एवं पौराणिक स्वरूप	/मारूत नन्दन मिश्र	/58
वैदिक ग्रंथों का काल–निर्धारण	/डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव	/60
व्याकरणशास्त्रे सन्धि विचारः	/उमाकांत शुक्ल	/62
भारतीय वैदिक परम्परा में पर्यावरण संरक्षण	/डॉ. धीरज कान्त 'धीरज'	/64
जाति सम्बन्धी अध्ययन तथा भारत की सामाजिक परिस्थितियों की विवेचना	/नित्यानन्द कुशवाहा, रश्मि	/67
गाँधीजी की अहिंसक क्रांति और वर्तमान विश्व	/मनोज कुमार सिंह	/69
ग्रामीण परिवारों में गर्भवती महिलाओं के आहार सम्बन्धी अवधारणा का.....	/अंजना जायसवाल	/71
नौकरीपेशा महिलाओं के समय व्यवस्थापन का अध्ययन व शिशुओं की.....	/निरूपमा, डॉ. राका राठौर	/73
बालश्रम के कानून : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में	/पंकज कुमार कर्ण	/75
भारत में अल्पसंख्यक : सांविधानिक प्रावधानों की पृष्ठभूमि	/डॉ. राजीव कुमार सिंह	/76
विश्वविद्यालय स्तर के एथिलीटों में डोपिंग का बढ़ता स्वरूप	/हरिश्चन्द्र पटेल	/79
ईश्वर–प्रत्यय : वल्लभाचार्य की दृष्टि में	/मनोज कुमार पाण्डेय	/82
कृषक समाज में शिक्षा : दशा एवं दिशा	/इन्द्रजीत सिंह	/83
भारतीय स्टेट बैंक द्वारा लघु एवं मध्यम उद्योगों का विकास	/मीनाक्षी गणोरकर	/85
An Appraisal of the Organization Functioning of Co-operative.....	/Sandip Kumar	/87
Preventive Conservation of Historic Stone Monument and Sculpture	/Dr. Satyendra Kumar	/90
Githa Hariharan's The Thousand Faces of Night : Resistance to	/Sandhya Singh	/92

विदग्ध गोष्ठी

'हिन्दी आलोचना और मैनेजर पाण्डेय' विषय पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी	/राजीव कुमार व बृजेश कुमार पाण्डेय	/95
पेड न्यूज : समाज व मीडिया दोनों के लिए घातक	/राजेश कुमार तिवारी	/96

सम्पादकीय

मीडिया की सैद्धान्तिकी

मीडिया संवाद का अनुशासन है। इसीलिए यह मूलतः आलोचनात्मक विधा है। बिना आलोचकीय तेवर के यह अपने लक्ष्य तक पहुँच पाने में अक्षम है। मीडिया की संवाद–प्रक्रिया दर्शन की तरह न तो सूक्ष्म है और न साहित्य की तरह बिंबधर्मी; बल्कि इसकी संवाद प्रक्रिया मूर्तता (घटना–तथ्य) से अमूर्तता की ओर जाती है। अमूर्तता का भार मीडिया बहुत देर तक बर्दाश्त नहीं कर सकती। दरअसल मीडिया द्वारा प्राप्त सूचना जनता की रुचि–प्रतिक्रिया द्वारा नियंत्रित, संचालित एवं उनके पक्ष या विपक्ष पर आधारित होती है। अर्थ यह है कि लोकतंत्र बिना मीडिया के संभव नहीं है और मीडिया बिना लोकतांत्रिक प्रक्रिया के जिन्दा नहीं रह सकती। प्रशंसा, निंदा या खण्डन–मण्डन करना मीडिया का मूल लक्ष्य नहीं, यह मात्र उसका एक पक्ष है। प्रशंसा–निंदा करके मीडिया लोकतंत्र की पीठिका तैयार करता है। लोकतंत्र का आधार जनता है, लोकतंत्र का लक्ष्य भी जनता ही है; अतः मीडिया का मुख्य कार्य है जनमत निर्माण, जनमत संगठन एवं जनमत को दिशा देना। स्पष्ट है लोकतंत्र की मूलभूत विशेषता बिना मीडिया के संभव नहीं है। लोकतंत्र के विपरीत सत्ता की मूल संरचना वर्चस्व पर टिकी होती है, एकाधिकार और शोषण पर टिकी होती है तथा मीडिया की मूल संरचना में प्रशासन की जवाबदेही जनता के प्रति होती है। इस जवाबदेहिता की निरन्तर जाँच का कार्य मीडिया करती है।

मीडिया प्रतिरोध की संस्कृति का माध्यम है। इसीलिए श्रेष्ठ पत्रकारिता सांस्कृतिकता से निर्मित भी होती है और संस्कृति को बदलती भी है। हर देश–प्रदेश की संस्कृति का प्रभाव वहाँ की मीडिया पर पड़ता है। जीवन्तता या रस (चाहे वह विषयगत हो या भाषागत) मीडिया को संस्कृति में गहरे पैठ से प्राप्त होती है। इसीलिए श्रेष्ठ पत्रकारिता सांस्कृतिक वैविध्य के सम्मान को लेकर चलती है; लेकिन 'जड़–संस्कृति' को तोड़ने का गुरुतर दायित्व भी मीडिया का ही है। इसीलिए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन मीडिया की पहली और आधारभूत शर्त है। सामाजिक यथार्थ का अर्थ यह नहीं है कि पत्रकार दृश्यों की हू–ब–हू 'रिपोर्टिंग' या 'कवरेज' कर दे, बल्कि यह भी है कि वह घटना–दृश्यों के अंतर्निहित कारणों का विश्लेषण–मूल्यांकन भी करे। यानी मीडिया मूलतः सामाजिक मूल्यांकन की प्रक्रिया है। मूल्यांकन में यह बात महत्वपूर्ण है कि आपके वैयक्तिक मत–पूर्वाग्रह का कम–से–कम आरोपण हो। यानी तटस्थ मूल्यांकन। मीडिया स्वभावतः किसी अन्य दूसरे ज्ञानात्मक अनुशासनों की तरह बिना सामाजिक ऊर्जा के जिन्दा नहीं रह सकता। लेकिन प्रश्न यह महत्वपूर्ण है कि समाज का स्वरूप और प्रस्तुतिकरण कैसा हो? आजकल इलेक्ट्रानिक चैनलों में व्यक्त समाज मिथ्या, ढोंग, झूठ, अकर्मण्यता, अविश्वास, छल और दिशाहीनता पर आधारित है। राजेन्द्र यादव जैसे साहित्यिक जब व्यंग्य भाव से 'मीडिया की जय हो...' कहते हैं या इस बात पर आशंका व्यक्त करते हैं कि सूचना का साहित्य संवेदना और वेदना के साहित्य को कहीं निगल न ले, तो वे आज के मीडिया के बदलते स्वरुप पर ही इशारा कर रहे होते हैं। इलेक्ट्रानिक चैनलों पर प्रसारित 'सनसनी' या 'वारदात' जैसे कार्यक्रम जहाँ मनुष्यता के विकृत रुप को बड़े ही ग्लैमरपूर्ण अंदाज में परोसते हैं, वहीं धरावाहिकों में बाज़ार का बड़ा ही आकर्षक–लुभावना रूप देखने को मिलता है। पूँजीपतियों को मालूम है कि इन धारावाहिकों के माध्यम से, व्यापक रूप से अपने ब्रान्ड का प्रचार–प्रसार आसानी से (छल रुप में) किया जा सकता है। धरावाहिकों में सबसे ज्यादा खिलवाड़ तो स्त्री–छवि के साथ हुआ है। ज्यादातर स्त्रियाँ 'विलेन' हैं। वे या तो षड्यंत्र करती नजर आती हैं या शॉपिंग करते हुए। गरीब से गरीब घर की स्त्री पात्र भी 'ग्लोबल ब्रांड' के गहने और साड़ियाँ पहने ही नजर आती हैं। अतः यह बाज़ार का लुभावना रुप भूमंडलीकरण–वैश्वीकरण का सांस्कृतिक दुष्प्रसार ही है। यहाँ नायक–नायिका नहीं हैं, यहाँ कन्ज्यूमर (उपभोक्ता) हैं। वैसे भी बाज़ार 'प्रोडक्ट' और 'कन्ज्यूमर' पैदा करता है। चरित्र या नायक (नायिका भी) नहीं। आज की मीडिया ने वैश्विक बाज़ार का रुप तैयार कर दिया है, जो लुभावना, आकर्षक और घातक है। बाज़ार के प्रभाव ने मीडिया के सामने संकट पैदा कर दिया है कि उसकी मूल संरचना भी बची रहे और वह मुनाफा भी कमाये।

फिर प्रश्न यह भी है कि मीडिया द्वारा उद्घाटित यथार्थ की छवि मतारोपित न हो। मत–निर्माण और मतारोपण में फर्क है। दुर्भाग्य से आज के इलेक्टॉनिक चैनलों के प्रायः चैनल मतारोपण को ही मत–निर्माण मानने लगे हैं। क्योंकि कभी मीडिया बाज़ार या सत्ता से संचालित होने लगती है। लेकिन यह उसका मूल स्वरुप नहीं है। मूलतः मीडिया सत्ता और जनता के बीच संवाद कायम करती है और अपने श्रेष्ठ रुप में वह सत्ता के खिलाफ जनमत निर्माण का कार्य करती है। यानी मीडिया का मूल लक्ष्य जनता की रुचि–निर्माण एवं परिष्कार, जनमत संगठन एवं दिशा देने का ही है। और शायद इसी लक्ष्य में मीडिया, समाज और लोकतंत्र सभी का संतुलन निहित है।

□

पुस्तक अंश

यह कौन सा दयार है?

डा0 आलोक पाण्डेय

हिन्दी के स्तरीय अखबार 'नवभारत टाइम्स, तथा 'जनसत्ता, कभी भी अपने चचेरे जैसे नहीं थे, लेकिन मुनाफे की हवस ने लगातार हिन्दी के श्रेष्ठ अखबारों को नुकसान पहुँचाया, बंद करवाया। इनके अनेक संस्करण बंद होते गए। 'जनसत्ता, जिसका साहित्यिक माहौल सर्वाधिक आकर्षक है, शायद सबसे कम बिकने वाला राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक है। नतीजतन वे या तो मनोरंजक और हल्के-फुल्के होते गए या बंद। गंभीर पत्रकारिता के लिए जगह नहीं रही।

एक ज़माने में मैं भी पत्रकारिता करता था या जो कुछ बड़ा होता बच्चा बताता है, यह पूछने पर कि वह क्या बनना चाहता है, उसमें से मेरे लिए एक 'पत्रकार' होना भी था। 'तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो' यह बात भी मैं तब नहीं जानता था। बड़ा हुआ तो पत्रकारिता के एक महत्वपूर्ण संस्थान से पत्रकारिता में एक डिग्री हासिल की और तो और जेएनयू से पीएच.डी. भी पत्रकारिता पर ही की। दिनमान की पत्रकारिता पर टीवी पत्रकार के रुप में अपनी जिंदगी शुरु की। उस दौर में 24 घण्टे समाचार चैनलों की जंग नहीं चलती थी, लेकिन तब तक समीर जैन ने टाइम्स ऑफ इण्डिया के साथ-साथ भारतीय पत्रकारिता का भी चरित्र बदल दिया था तथा दिलीप पडगाँवकर जैसे लोग जेएनयू में अतिथि अध्यापक के रूप में दिन गुजार रहे थे। अखबार के दफ्तर में मैनेजर संपादक को बाहर का रास्ता दिखा रहा था, अर्थात् पत्रकारिता करवट बदल रही थी। ऐसे दौर में मैंने पत्रकार के रुप में जिंदगी शुरु की और पाया कि हिन्दी का पत्रकार चाहे वह अखबार का हो या टीवी का, पत्रकारिता की दुनिया में दोयम दर्जे का नागरिक ही था। मुझे आज भी हिन्दुस्तान टाइम्स के बिल्डिंग में, दैनिक हिन्दुस्तान के दफ्तर में प्रवेश करने का वह दरवाजा दिखता है, जिसके बिल्कुल बगल में हिन्दुस्तान टाइम्स के लोगों का शौचालय हुआ करता था। बाहर हिन्दुस्तान टाइम्स का चमकता ऑफिस, अंदर एक कोने में चार टूटी कुर्सियों वाला छोटा-सा कोना दैनिक हिन्दुस्तान का और यह उस 'हिन्दुस्तान' का आलम था, जहाँ पत्रकार होना हर तरह से बड़ी सुविधा और फख्र की बात समझी जाती थी। लगभग ऐसी ही हालत जनसत्ता की भी थी और पत्रिकाओं की बात करें, तो हिन्दी इण्डिया टुडे में शीर्ष स्तर पर कार्यरत निहायत भले मानुष अशोक कुमार जी से मिलने जाना किसी भूल भुलैया से गुजरते हुए कबूतर खाने में जाने जैसा होता था और आज भी स्थिति यही है। खैर यह तो बाहरी दृश्य था भीतरी दृश्य तो और भी ज्यादा मार्मिक था। अच्छे-भले पत्रकार अनुवादक बनकर रह गये थे। साहित्य का एक पृष्ठ बढ़ जाने पर इण्डिया टुडे का संपादक चिल्लाता था- "एक लाख लगते हैं एक पन्ने के, कम करो साहित्यिक पृष्ठ।" बाकी वेतन की दोयम या कमतर स्थिति, साथी महिला पत्रकारों की महत्वाकांक्षा का अनुचित लाभ उठाते वरिष्ठ और इन सीढ़ियों पर चढ़कर तरक्की पाती कोई कम अक्ल पर खूबसूरत लड़की, संपादकों और अंततः मालिकों की सत्ता परस्ती हौसले पस्त करती थी। सपनीली आँखों में रेत भर जाता था। मैं सोचता था कि यहाँ तो तोप से मुकाबले के लिए मेरे हाथ में कलम है और कहाँ मेरी ये कलम या इसे पकड़ते मेरा हाथ इतना कमजोर है कि अपनी छोटी-छोटी लड़ाइयों के लिए भी खड़ा नहीं हो पाता, तो जमाने के लिए क्या खाक खड़ा होगा। ऐसे माहौल में लड़ते-लड़ते एक दिन मैंने पत्रकारिता की दुनिया को अलविदा कह दिया। विश्वविद्यालयी अध्यापक बन गया। पर मन रह-रह कर लौटता था, कि चलो फिर कोशिश करें। किसी दूसरी और बेहतर जगह पर कोशिश करें। शायद वहाँ हालात बेहतर हो और वाकई कुछ काम किया जा सके। पर वापसी की कोशिशें बेकार गईं। वापसी के चंद असफल प्रयासों के बाद मैंने मुड़कर देखना ही बंद कर दिया, पर समाचारों को देखता-पढ़ता रहा। समाचारों को पढ़ते हुए पहले तो मैं हक्का-बक्का होता गया, फिर मैं यह देख रहा था कि कैसे शानदार पत्रकार भूतों के कदमों की आहट पर चिल्ला रहे थे और कैसे गड्ढे में गिर पड़े एक बच्चे के लिए रिपोर्टिंग करता पत्रकार बदहवास दिख रहा था। अच्छे-भले प्रतिभाशाली पत्रकार, जिनमें से कई मेरे मित्र थे और हैं, सनसनी की पत्रकारिता कर रहे थे। 'सनसनी' नाम का कार्यक्रम पत्रकारिता का पर्याय हो रहा था। अब मुझे उस संपादक की बात याद आती है, जिसने मेरी वापसी की कोशिशों के दिनों में कहा था कि 'क्या आपका दिमाग खराब है, जो विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़कर आप टीवी में वापस आना चाहते हैं?आज सोचता हूँ, तो मैं शुक्रिया कहता हूँ- उस बंधु को। यदि मैं वापस हो गया होता, तो भयानक 'फ्रस्ट्रेशन' में होता। उसी फ्रस्ट्रेशन में, जिसका जिक्र मेरे साथी पत्रकार अक्सर करते रहते हैं। इन सब रास्तों से गुजरने के बाद जब मैं आज पत्रकारिता के

परिदृश्य पर नजर डालता हूँ, तो मन के आसमान पर सवालों के घने काले बादल छा जाते हैं। दिनमान जिस पर मैंने शोध कार्य किया था, याद आता है। वे लोग याद आते हैं, उनका सपना तथा परिश्रम याद आता है और यह विडम्बना भी अजीब ही है कि इन्हीं समीर जैन के पिता, उसी बेनेट कोलमेन से दिनमान निकालते थे, जो आज किसी बनिए की दुकान होकर रह गया है। सोचता था और सोचता हूँ कि 'पत्रकारिता क्या है?' 'कोई पत्रकार क्यों बनता है?' 'वह आखिर क्या करना चाहता है?' इन सवालों के जवाब किताबों में हैं भी और नहीं भी हैं, परिभाषाओं, सिद्धांतों और उनकी व्याख्याओं के रुप में हैं और नहीं हैं तो उन अंतरालों में, जो इन परिभाषाओं, सिद्धांतों और व्याख्याओं के बीच अक्सर मिल जाते हैं, मुँह चिढ़ाते हुए। पत्रकारिता की यात्रा शुरु हुई थी उसी बुनियादी रचनात्मक चिंता के साथ कि दुनिया को उसके दाग ही नहीं दिखाने हैं, बल्कि उसे यह भी बताना है कि ये दाग आये कहाँ से?उन दागों के पीछे के जख्म कौन–से थे और इन्हें दिए किसने थे? और आखिर क्या किया जाए कि न जख्म मिलें और ना ही दाग तथा दुनिया का चेहरा खुशनुमा हो सके।

> हिन्दी की सर्वाधिक बिकने वाली समाचार पत्रिका का नाम 'इण्डिया टुडे' है। धड़ल्ले से अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हिन्दी न्यूज चैनलों में होना अब एक आम बात है। ऐसे में समाचार चैनलों की भाषा से साहित्यिकता या रचनात्मकता की उम्मीद करना ही बेमानी है। हिन्दी पत्रकारिता की भाषा भ्रष्ट हो रही है। उसके साहित्यिक सरोकार नष्ट हो रहे हैं।

बात शुरु में ठीक थी। पत्रकारिता जमाने का आइना थी। उसकी आखों में युग–निर्माण का सपना झिलमिल करता था। 'दुःख भरे दिन बीते रे भैया, अब सुख आयो रे' उसके होठों पर था और उसे पता था कि यह सुख अपने–आप उड़कर नहीं चला जाएगा, बल्कि उसे लाना होगा और इसे लाने में उसका हाथ भी शामिल होगा। लेकिन धीरे–धीरे बामनदास मरता गया, सहर शबगजीदा होती चली गई और उजाला दाग–दाग। ऐसे ही माहौल में 'दिनमान' उदित हुआ। 'राष्ट्रभाषा में राष्ट्र का आह्वान' उसका नारा था। यह नारा बहुत कुछ कहता था। आखिर राष्ट्र के आह्वान की ज़रुरत क्या थी? और राष्ट्रभाषा, वह तो हक्की–बक्की खड़ी थी उस नई नवेली बहू की तरह, जो ससुराल में कदम रखे तो पाए कि उसकी आरती तो उसकी सौत उतार रही है। सन् पैंसठ के बाद के भारत को तो बहुत ज़रुरत थी आह्वान की।

'आह्वान', जिसे विवेकानन्द के शब्दों में कहें, तो जगने, उठने और चलने का आह्वान। लंबी गुलामी के बाद आज़ाद हुआ मुल्क, दो टुकड़ों में बंटा लहूलुहान और विश्वासघात से आहत था। 'हिन्दी चीनी भाई–भाई' ने उसे इस कदर छला था कि उसका महानायक तक लड़खड़ा गया था। ऐसे में बहुत ज़रूरत थी किसी ऐसी आवाज़ की, जो हताश हो रहे देश को जगने, उठने और चलने को प्रेरित करे। अज्ञेय ने कितना सोचकर नाम रखा था 'दिनमान' यानी सूर्य। और दिनमान को आह्वान करना था 'राष्ट्र का राष्ट्रभाषा में'। क्या बिना राष्ट्रभाषा के किसी राष्ट्र का आह्वान किया जा सकता है? क्या उसे झकझोरा और जगाया जा सकता है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि देश को जगाने की इस प्रक्रिया में ही राष्ट्रभाषा की ज़रूरत तथा महत्व का भी पता चलता है। देश को जगाने के साथ–साथ वह राष्ट्रभाषा को भी जगाना था। बात बन गई। अज्ञेय के सपने को भरपूर रंगत दी रघुवीर सहाय ने और फिर दिनमान ने सूचना तथा ज्ञान के अनेक आयाम खोले। पत्रकारिता को एक अप्रतिम ऊँचाई दी। पत्रकारों की एक नई पीढ़ी ही नहीं तैयार की, एक नई प्रकार की पत्रकारिता तथा इस नई पत्रकारिता के लिए एक नया तेजस्वी विशाल पाठक समुदाय भी तैयार किया। ऐसा पाठक समुदाय, जो गहरी आतुरता के साथ पत्रिका की प्रतीक्षा ही नहीं करता था, बल्कि उसे पढ़ते हुए उसके साथ–साथ चलता भी था। दिनमान अपना काम कर रहा था। वह जनचेतना का निर्माण कर रहा था। यह पत्रकारिता का स्वर्णकाल था। इस यात्रा में उसने साहित्य का वह संस्पर्श पत्रकारिता को दिया, जिसने पत्रकारिता की भाषा ही बदल दी। उसने ऐसे पत्रकार खड़े किए, जो साहित्यकार पहले थे या पत्रकार, यह तय करना आज तक मुश्किल है। साहित्य और पत्रकारिता की इस जुगलबंदी ने पाठकों के मर्म को छुआ। पत्रकारिता की भाषा की कमज़ोर साहित्यिक सरोकारों की वजह से उसकी ताकत में बदल रही थी। पहली बार शायद इतनी बड़ी संख्या में साहित्यकार पत्रकारिता कर रहे थे और कमाल की कर रहे थे। 'यह मथुरा की तस्वीर नहीं है' मुख पृष्ठ पर लिखकर भारत के जेल में हुए पहले बलात्कार पर आवरण कथा देने वाले दिनमान का रिश्ता सत्ता के साथ कैसा था, यह अलग से बताने की ज़रुरत नहीं है। वह सदैव सतर्क, प्रतिबद्ध प्रतिपक्ष था। लोहिया यूँ ही तो उस पर जां निसार नहीं हुए होंगे। मैं छोटा था। दिनमान को देखता–पढ़ता ज्यादा था, समझता कम था। उम्र बढ़ी तो लगा कि यह आकर्षण बढ़ रहा है और चूँकि थोड़ी–सी समझ भी बढ़ी थी, इसलिए इस आकर्षण की गंभीरता तथा महत्व को भी समझ पा रहा था। यह अलग बात है कि जब ठीक से पढ़ने और समझने लायक हुआ, तो दिनमान के अस्ताचल में जाने का समय हो चुका था। इस बात का अफसोस मुझे आज तक है और बहुत से लोगों को है। पर

दिनमान ने अपना काम कर दिया था। एक तो यह आकर्षण इतना बड़ा कि मैंने इसे अपने शोध कार्य का विषय बनाया, जो प्राथमिक कार्य होने की वजह से थोड़ा चुनौतीपूर्ण भी रहा। दूसरा यह कि पत्रकार बनने, पत्रकारिता करने तथा इसी बहाने कुछ कर गुजरने का भाव भी मन में भरता चला गया।

शोध कार्य पूरा करने के बाद सक्रिय पत्रकारिता की दुनिया में कदम रखा। चलना शुरु किया तो पता चला कि पत्रकारिता व पत्रकारों को जमाने के दुश्मनों को पहचानना और उनसे सामर्थ्य भर लड़ना ही नहीं था, बल्कि भीतर के दुश्मनों से भी लड़ना था। पत्रकारिता को अपने स्वार्थ के लिए सत्ता कितनी तिकड़मों या खूबसूरती से इस्तेमाल करती है या करना चाहती है, यह अपने–आप में मार्मिक पर दिलचस्प शोध का विषय है। 'तिकड़में', जो बढ़कर भय का रुप धारण कर लेती है, 'भय', जिसे आप उन पत्रकारों की मौत में देख सकते हैं, जो गाँवों कस्बों से लेकर महानगरों तक, नक्सल क्षेत्रों से लेकर युद्ध के मैदानों तक में मार दिए जाते हैं या मर जाते हैं। या फिर रिपोर्टिंग करते पत्रकारों पर कैसे हमला होता है, कैसे उन्हें बंधक बना लिया जाता है, उन्हें मारा जाता है, उनके कैमरे तोड़ दिए जाते हैं। और रही बात खूबसूरती से इस्तेमाल करने की, तो इसकी शुरुआत एक पैग से होती है और ज़मीनों के या फ्लैट के मिलने से लेकर राज्यसभा में सांसद होने की संभावनाओं तक जाती है। सामान्यतः आप या तो इस तरफ हैं या उस तरफ। बीच में रिश्ते की वर्तमान सच्चाइयों को समझने में मदद मिल सकती है। मनमोहन सिंह जी की सरकार बचाने के सिलसिले में, जो कुछ भी हुआ, वह जगजाहिर है। बीजेपी के तीन सांसदों ने सपा के अमर सिंह पर आरोप लगाया कि उन्होंने उन्हें पैसे देकर अपनी तरफ करने की कोशिश की। ये सारा मामला सीएनएन–आईबीएन से तय हुआ था कि वे इस वीडियो को संसद में शक्ति परीक्षण के दिन दोपहर बाद दिखाएंगे, जो सीएनएन–आईबीएन ने नहीं दिखाया, बल्कि लोकसभाध्यक्ष को वह वीडियों सौंप दिया। अमर सिंह ने अपना नाम लिए जाने पर कहा कि मुझे फँसाना इतना आसान नहीं है। इस मामले से संबंधित एक करोड़ रुपये संसद में दिखाए भी गए। इनक्वायरी चल रही है। लगभग 20 दिन बाद चैनल ने उस वीडियो को यह करते हुए दिखाया कि हम कोई निष्कर्ष नहीं दे रहे हैं कि कौन दोषी है या नहीं। हम सिर्फ इसे दिखा रहे हैं। हालाँकि वीडियो में जो भी दिखाया गया, वह बहुत स्पष्टता से कुछ कहता नहीं था। निष्कर्ष गलत हो सकते हैं। वह वीडियों स्पष्ट क्यों नहीं है, यह भी एक सवाल है।

> हमारा लोकतंत्र संकट में है हमारी पत्रकारिता संकट में है। पूँजी और सत्ता ने दोनों को हतप्रभ कर दिया है। पत्रकारिता लोकतंत्र का चौथा स्तंभ होती है। यदि पत्रकारिता नष्ट होगी, तो लोकतंत्र भी नष्ट होगा।

अब आइए इस घटना का विश्लेषण करें और देखें कि चीजें कहाँ से कहाँ पहुँच गई हैं। एक ईमानदार पत्रकार या पत्रकारिता किस हाल में है और वह ईमानदार है भी या नहीं? तथाकथित रुप से, बीजेपी के सांसदों को जब पैसा लेकर अनुपस्थित होने का ऑफर मिला, तो उन्होंने यह बात अपने हाईकमान को बताई। हाईमान ने कहा–ठीक है, आगे बढ़ो और उसने न्यूज चैनल से सौदा किया कि हम तुम्हें मौका देते हैं– इसे शूट करने और दिखाने का, बस शर्त यह है कि शाम को मतदान होगा और तुम दोपहर बाद देश को यह सारी खरीद–फरोख्त दिखाओगे। चैनल ने शूट तो किया, पर दिखाया नहीं। आप कल्पना करें कि यदि वह सब दिखाया गया होता और शूटिंग बिल्कुल स्पष्ट होती, तो चैनल की टीआरपी कितनी बढ़ जाती, वह भारतीय इतिहास में इतना बड़ा स्टिंग ऑपरेशन करने वाला पहला चैनल होता, उसे लाभ ही लाभ होता और दूसरी तरफ भाजपा को या सरकार विरोधियों को भी शायद अपने मकसद में सफलता मिल जाती और सरकार गिर जाती, क्योंकि चंद वोटों से ही सारा मामला तय होना था।

सबसे पहले भाजपा से शुरु करें। उसने मौके का फायदा उठाकर और न्यूज चैनल को इनवॉल्व कर उसे इस्तेमाल करने की कोशिश की। चैनल ने मौके का फायदा उठाया, पर दिखाया नहीं। सवाल है क्यों?क्या इसका उत्तर यह नहीं है कि उसे पता था और बहुतों को पता था तथा स्वयं उस प्रकरण में तथाकथित रुप से अमर सिंह ने भी कहा था कि तुम तीनों सांसदों के बिना भी हम जीतेंगे। यानी चैनल इस तरह भी जानता था और एनडीटीवी की बरखा दत्त तो पहले से ही कह रही थीं कि सरकार बच जाएगी। इसलिए सीएनएन–आईबीएन सरकार के खिलाफ वह वीडियो दिखाकर सत्ता का शत्रु बनने का साहस नहीं कर पाया। सरकार बच भी जाती और दुश्मन भी हो जाती। आइए अब दूसरी व्याख्या करें। सीएनएन–आईबीएन का बड़ा पार्टनर है 'सीएनएन'। यह एक अमेरिकी कंपनी है। कांग्रेस या सरकार जिस मामले में संकट में आ गई थी, वह न्यूक्लियर डील के मामले पर अमेरिका के साथ को लेकर थी। तो अंततः अमेरिकी पूँजी से नियंत्रित होने वाला न्यूज–चैनल ऐसी किसी सरकार को कैसे गिराता, जो अमेरिका के साथ की वजह से गिर रही थी। यह बात भाजपा हाईकमान नहीं समझ सका। वह एनडीटीवी के पास क्यों नहीं गया, क्योंकि दुनिया समझती है कि यह चैनल कांग्रेस समर्थक है। कहा जाता है कि प्रणव राय की पत्नी राधिका राय सोनिया गांधी की करीबी मित्रों में से एक हैं। तो अंत में पत्रकारिता की सारी क्रांतिकारिता भय या लालच के कारण टांय–टांय फिस्स हो जाती है। ऐसे में उस पत्रकार या उन पत्रकारों की मेहनत और साहस का जिक्र कहीं नहीं हुआ, जो यह सब देखकर हक्के–बक्के होंगे और

जिन्होंने इस सारे ऑपरेशन को अंजाम दिया था।

आइए अब मैं आपको हाल ही की एक दूसरी घटना के बारे में बताता हूँ। यह एक ऐसे पत्रकार के बारे में है, जो डरता नहीं और बिकता नहीं। पर ऐसे पत्रकारों के साथ पूँजी और सत्ता क्या करती है, आइए देखें। मुकेश अंबानी ने सैकड़ों–हज़ारों करोड़ रुपये में एक बहुमंजिला, अत्यन्त आधुनिक और सुख–सुविधा संपन्न घर बनवाया। अपने देश में किसी ने कोई नकारात्मक टिप्पणी नहीं की। पर एक महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश अखबार के महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश पत्रकार ने अपने कॉलम में इस बात की भर्त्सना की और कहा कि एक गरीब देश में यह फिजूलखर्ची है। वह ये कॉलम पिछले बीस वर्षों से नियमित लिख रहे थे, इसलिए यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह कॉलम कितना लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण होगा। पर इस कॉलम के प्रकाशन के एक हफ्ते के अंदर ही वह कॉलम बंद कर दिया गया और उस पत्रकार को नौकरी से निकाल दिया गया।

यह है 'पूँजी और सत्ता की ताकत' कि एक भारतीय उद्योगपति ब्रिटिश पत्रकारिता को प्रभावित कर देता है, तो देशी पत्रकारिता की क्या हैसियत है। एक मामूली बात पर सत्ता इतनी असहिष्णु हो सकती है, तो बड़े मामलों पर वह क्या नहीं कर गुजरेगी। आज हमारी पत्रकारिता की जो हालत है, उसमें काम कर रहे पत्रकारों की जो हालत है, खासकर हिन्दी पत्रकारिता और उसमें भी हिन्दी न्यूज चैनलों की। एकाध को छोड़ दें, तो बाकियों की स्थिति हतप्रभ करने वाली है। सारे चैनल सिर्फ सनसनी पैदा करना चाहते हैं। अच्छे–भले प्रतिभाशाली पत्रकार नाटकीय मुद्राओं में ऐसे समाचारों को प्रस्तुत करते रहते हैं, जिन्हें समाचार मानना ही मुश्किल है और सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि जो सबसे ज्यादा सनसनी खेज और अंततः वाहियात चैनल हैं, उनकी टीआरपी सबसे ज्यादा है और वे एकाध जो ऐसे नहीं हैं, उनकी सबसे कम। धन्य हो हिन्दी दर्शक समाज! चूँकि अंग्रेजी दर्शक समाज दूसरे ढंग का होता है, इसलिए वहाँ ऐसी हालत नहीं है।

यह तो हुई सत्ता, पूँजी और पत्रकारिता के रिश्तों की एक झलक। अब आइए साहित्य और पत्रकारिता के रिश्तों को देखें। हिन्दी के स्तरीय अखबार 'नवभारत टाइम्स' तथा 'जनसत्ता' कभी भी अपने चचेरों जैसे नहीं थे, लेकिन मुनाफे की हवस ने लगातार हिन्दी के श्रेष्ठ अखबारों को नुकसान पहुँचाया, बंद करवाया। इनके अनेक संस्करण बंद होते गए। 'जनसत्ता' जिसका साहित्यिक माहौल सर्वाधिक आकर्षक है, शायद सबसे कम बिकने वाला राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक है। नतीजतन वे या तो मनोरंजक और हल्के–फुल्के होते गए या बंद। गंभीर पत्रकारिता के लिए जगह नहीं रही। अखबारों के नाम, उनके स्तंभों के नाम अंग्रेजी में हैं। हिन्दी की सर्वाधिक बिकने वाली समाचार पत्रिका का नाम 'इण्डिया टुडे' हैं। धड़ल्ले से अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हिन्दी न्यूज चैनलों में होना अब एक आम बात है। ऐसे में समाचार चैनलों की भाषा से साहित्यिकता या रचनात्मकता की उम्मीद करना ही बेमानी है। हिन्दी का साहित्यकार अपनी मूल दुनिया में ही उपेक्षित है, तो समाचारों की दुनिया में वह भला क्या सम्मान पाएगा। हिन्दी पत्रकारिता की भाषा भ्रष्ट हो रही है। उसके साहित्यिक सरोकार नष्ट हो रहे हैं।

ज्यादा मुनाफे की फिक्र सब कुछ नष्ट करती है, चाहे वह पत्रकारिता के मूल्य हों, भाषा की रचनात्मकता और शुद्धता हो या साहित्यिक संस्पर्श से आती मर्मस्पर्शिता। हम पत्रकारिता से जो भी उम्मीदें करते हैं, वे सारी उम्मीदें दिनमान पूरा करता था। उसने एक युग बनाया था। उसके वे मूल्य बेहद ज़रुरी हैं– आज की पत्रकारिता के लिए, हमारे लोकतंत्र के लिए। हमारा लोकतंत्र संकट में है हमारी पत्रकारिता संकट में है। पूँजी और सत्ता ने दोनों को हतप्रभ कर दिया है। पत्रकारिता लोकतंत्र का चौथा स्तंभ होती है। यदि पत्रकारिता नष्ट होगी, तो लोकतंत्र भी नष्ट होगा।

••••

*प्रसिद्ध पुस्तक 'बहरहाल' से साभार

परिचर्चा

मीडिया, साहित्य और समाज

प्रो. सुवास कुमार
प्रसिद्ध समीक्षक, आचार्य, (हिन्दी विभाग)
हैदराबाद विश्वविद्यालय

प्रो. ऋषभ देव शर्मा
आचार्य, एवं अध्यक्ष उच्च शिक्षा और संस्थान
खैरताबाद, हैदराबाद

डॉ. आलोक पाण्डेय
एसो. प्रो. हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय

परमिता के प्रस्तुत अंक को हमने 'मीडिया विशेषांक' के रुप में प्रस्तुत किया है। आज के सूचना तथा संचार के युग में मीडिया की महती भूमिका को दृष्टि में रखते हुए इस पर पर्याप्त विमर्श की आवश्यकता है। इसी सन्दर्भ में एक परिचर्चा का आयोजन किया गया जिसमें विज्ञ जनों के विचार प्रकाश में आये। इसमें जिन प्रमुख प्रश्नों को उठाया गया है, वे निम्नलिखित हैं–

*साहित्य और मीडिया का संबंध, *साहित्य पर मीडिया का दबाव, *मीडिया की सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका, *बाजार और साहित्य *बाजार और मीडिया, *मीडिया की भाषिकी।

प्रो. सुवास कुमार–

1. साहित्य पर मीडिया का दबाव : साहित्य मीडिया अर्थात् सूचनातंत्र से बहुत ज्यादा है। इसमें सूचना (Information), ज्ञान (Knowledge) और सुखानन्द (Selfless pleasure) की त्रिवेणी का समाहार है। मीडिया भौतिक सुविधाओं और मनोरंजन की बात करता है। मीडिया प्राणी को आदमी बनाता है, साहित्य आदमी को बेहतर आदमी। मीडिया सभ्यता–संस्कृति संबंधी सूचनाएं देता है, साहित्य बेमालूम तरीके से आदमी का संस्कार करता है।

साहित्य अपनी प्रकृति से ही व्यवस्था–विरोधी होता है और व्यवस्था चाहकर भी सच्चे साहित्य पर अधिकार नहीं कर पाती। मीडिया का स्वरूप खर्चीला होने से उस पर व्यवस्था और पूँजी का वर्चस्व कायम हो जाता है।

2. साहित्य और मीडिया का सम्बन्ध : साहित्य में मीडिया और मीडिया में साहित्य अक्सर आवाजाही करते ही रहते हैं। एक दूसरे से दोनों लाभ उठाते हैं। यहाँ तक तो ठीक, पर मीडिया के लाभ–लोभ, फैशन और चमक–दमक (ग्लैमर) से प्रभावित होने पर साहित्य अपना सहज–स्वाभाविक सौन्दर्य और शक्ति खो देता है। मीडिया जब प्रचारतंत्र का हिस्सा बनता है तब साहित्य, कलाओं, फिल्मों आदि के प्रति पाठकों और जनता की रूचि और समझ को प्रभावित करने लगता है। फलस्वरूप साहित्य में कुछ खास ढंग की वांछित–अवांछित चीजों का बोलबाला हो जाता है।

.3. मीडिया की सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका : मीडिया की पहुँच बहुत दूर तक और व्यापक है। इसलिए उसका सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव और दायित्व भी प्रत्यक्ष रूप से बड़ा है। यह और बात है कि वह अपनी जनता के पक्ष में खड़ा होता है या अपने मालिक (पूँजी) के। भारत और तीसरी दुनिया देशों के आम गरीबों के हित में मुख्य धारा वाले मीडिया की कोई विशेष सकारात्मक भूमिका नज़र नहीं आती। हाँ, छोटी पूँजी वाला मीडिया छोटे पैमाने पर कुछ करता तो है मगर वहाँ भी वह आपस में बँटा हुआ अलग–अलग अपनी डफली अपना राग बजाता रहता है।

विभिन्न वर्गों और जातियों में विभाजित भारतीय समाज में स्वाभाविक रूप से संस्कृतियाँ भी भिन्न हैं। फिर भी भारतीय सभ्यता (जिसे पश्चिमी इतिहासकार Hindu Civilisation कहते हैं।) और इसकी सामाजिक संस्कृति की एक अपनी पहचान भी रही है। मीडिया का साधन और लक्ष्य (Target) मोटे तौर पर मध्यवर्गीय जीवन बन चुका है। इस जीवन में अतिशय लोभ, लालच, भोगवाद, अंध स्वार्थ, असुरक्षा आदि–जैसी नकारात्मक वृत्तियाँ और भाव बड़े ही सूक्ष्म तरीके से भरे जा रहे हैं। भूमंडलीकरण और भू–मंडीकरण के इस दौर में सभी महसूस कर रहे हैं कि भारतीय संस्कृति नामक वस्तु पर संकट बड़ा गहरा है। यहाँ तक कि हमारी अपनी पहचान का भी संकट हो चला है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसे हालात में साहित्य और मीडिया दोनों की ज़िम्मेदारी पहले से बहुत बढ़ी है। लेकिन जिस मीडिया के लिए मुनाफा ही चरम जीवन–मूल्य बन गया हो, उससे कर्त्तव्य और दायित्व निभाने की उम्मीद करना कहीं कोरी उम्मीद बनके ही न रह जाए।

4. बाजार और साहित्य : आज हर एक उत्पादित वस्तु को बाजार चाहिए होता है। बाजार को माल चाहिए, कला और साहित्य भी उसके लिए माल हैं। बिक्री और मुनाफे से उनकी उपयोगिता निर्धारित होती है। साहित्य रचना की स्वान्तःसुखाय वाली धारणा को अब कोई खास तवज्जो नहीं दिया जाता। हालाँकी हिन्दी में साहित्य–लेखन से मिलने वाली रायल्टी पर बसर करने वाले गिने–चुने लोग ही हैं (और हिन्दी की रचनाशीलता संभवतः इसलिए भी बाज़ार के भारात्मक दबाव से बहुत कुछ बची हुई है) मगर बाज़ार

प्रकाशकों को– और प्रकाशकों की मार्फ़त लेखकों को निश्चित ही प्रभावित करता है यही बात पाठकों की रूचियों

मध्य वर्ग की रूचियों का निर्धारण और बाज़ार का पोषण मीडिया धड़ल्ले से कर रहा है। ऐसा लगता है कि आज का बाज़ार और मीडिया दोनों एक दूसरे के लिए बने हैं दोनों का अस्तित्व इस हद तक परस्पर–निर्भर हो चला है। यह मीडिया और बाज़ार की मिली भगत का ही कुफल है कि आज नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई–जैसे अनेकानेक सकारात्मक जीवन–मूल्य पिछड़ा हुआ (outdated) बताये जा रहे है।

के बारे में भी सच है।

साहित्य चूँकि हमारी मानसिकता का संस्कार और परिष्कार करता है अतः वह बाज़ार के आगे घुटने टेकने से इनकार करता है। बाज़ार की अमानवीय ताक़तों से लोहा लेने के लिए वह हमारे भीतर प्रतिरोधक क्षमता पैदा करता और उसे बढ़ाता है। मगर ऐसी गुणवत्ता वाला सच्चा साहित्य किसी भी अच्छी वस्तु की तरह मात्रा में कम होता है, पर होता है। बाज़ार के काम की चीज़ बाज़ारू साहित्य है पर गंभीर साहित्य के संदर्भ में उचित ही उसे चर्चा के काबिल नहीं माना जाता।

5. बाजार और मीडिया : विज्ञापन और दूसरे हथकंडों से मीडिया वस्तु/माल के लिए मांग (demand) पैदा करता है। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में निश्चित वस्तुओं, विचारों आदि के पक्ष में लोगों की सहमति पैदा करता और बनाता है (जिस स्थिति को नोम चाम्स्की 'constructing consent' कहते हैं।) मध्य वर्ग की रूचियों का निर्धारण और बाज़ार का पोषण मीडिया धड़ल्ले से कर रहा है। ऐसा लगता है कि आज का बाज़ार और मीडिया दोनों एक दूसरे के लिए बने हैं दोनों का अस्तित्व इस हद तक परस्पर–निर्भर हो चला है। यह मीडिया और बाज़ार की मिली भगत का ही कुफल है कि आज नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई–जैसे अनेकानेक सकारात्मक जीवन–मूल्य पिछड़ा हुआ (outdated) बताये जा रहे हैं।

6. मीडिया की भाषिकी : आज के मुद्रित हों या श्रव्य–दृश्य माध्यम, ज़रा इनकी भाषा देखिए। ग़ौर किये बिना भी इनके द्वारा प्रयुक्त ग़लत–सलत, खिचड़ी अथवा गैर–ज़रूरी अंग्रेज़ी शब्दों/पदों पर ध्यान चला ही जाता है। एक अनुमान के अनुसार हिन्दी मीडिया द्वारा व्यवहृत हिन्दी में कोई पच्चीस प्रतिशत शब्द अंग्रेजी के होते हैं। यह बिल्कुल ग़ैर–ज़रूरी है, क्योंकि इन अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी में प्रचलित पर्याय खूब मिलते हैं। कारण भले ही ज़्यादा (अ–हिन्दीभाषी) लोगों तक पहुँचने का हो, मगर इससे हिन्दी भाषी निम्नवर्ग की समझ में भाषा नहीं आ पाती। साथ ही भाषा का रूप विकृत होने लगा है सो अलग। एक और तरह से मीडिया हिन्दी भाषा का रूप बदलने में लगा है और वह है विभिन्न भारतीय भाषाओं और बोलियों के शब्दों, पदों, लहज़ों आदि का हिन्दी में मिश्रण करना। एक तरफ यह हिन्दी के विकास और फैलाव की दिशा में बढ़ा हुआ कदम है तो दूसरी तरफ असंयमित प्रयोगों से हिन्दी में विकृति का आना लाज़िमी है।

ऋषभ देव शर्मा–

1. साहित्य और मीडिया का सम्बन्ध : एक तरह तो सब साहित्य मीडिया ही है, अपने विचारों और भावनाओं को साहित्यकार व्यापक जन–गण तक पहुँचाना चाहता है, इसके लिए वह साहित्य का माध्यम (मीडिया) चुनता है, परन्तु दोनों

कहना न होगा कि हिन्दी अपनी ताकत से मीडिया पर हावी हो रही है, कभी–कभी जब मीडिया हिन्दी पर हावी होने लगता है तो हिंग्लिश जैसी अटपटी शैली सामने आती है जिससे बचना ज़रूरी है, अन्यथा आज का मीडिया हिन्दी की अनेकवर्णी विविधता का जीता–जागता आईना बन गया है।

में एक मूलभूत अंतर मुझे यह दिखाई देता है कि साहित्य का नियंत्रण साहित्यकार के अहं द्वारा होता है, उसमें लेखक का अपना व्यक्तित्व बोलता है। कविता अगर कवि–निरपेक्ष हो जाए तो सब धान एक भाव बिकने लगेगा, दूसरी तरफ, मीडिया को वह दिखाना होता है जिसका कुछ समाचार–मूल्य हो,समाचार मूल्य तय करने वाला एक बड़ा घटक है रुचि, यह अलग बात है कि मीडिया को अपने लक्ष्य के साथ–साथ समाज की रुचि का परिष्कार भी करना चाहिए, ऐसा माना जाता है। इस अंतर के बावजूद इस तथ्य को नहीं झुठलाया जा सकता है कि साहित्य और मीडिया दोनों ही जहां एक ओर यश और अर्थ कमाने के माध्यम हैं वहीं दूसरी ओर दोनों की ही कुछ एक जैसी जिम्मेदारियां हैं– जनता को शिक्षित करना, जनांदोलन खड़ा करना, प्रेरित करना, अशिव की क्षति के लिए पहरेदार की भूमिका निभाना, जीवन और जगत् के रहस्यों की व्याख्या करना और इन सब के साथ–साथ मनोरंजन करना,

साहित्य रस और आत्मोपलब्धि का साधन है तो मीडिया सनसनी और विस्मय का, जब साहित्य सनसनी पैदा करने लगे या मीडिया रसानुभूति देने लगे तो समझना चाहिए कि दोनों एक दूसरे के प्रभाव–क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

2. साहित्य पर मीडिया का दबाव : साहित्य पर मीडिया का दबाव सहज है, बहुत सारा है, गोचर है। मीडिया साहित्य का नया पाठ तैयार कर रहा है, इस प्रक्रिया में मूल पाठ के साथ छेड़खानी स्वाभाविक है। 'ओंकारा' के रूप में ओथेलो का मीडिया पाठ रचा गया है तो 'राजनीति' और 'रावण' महाभारत और रामायण के मीडिया रचित पाठ हैं। मीडिया में मनोरंजन और व्यवसाय की प्रधानता साहित्यिक कृतियों के इस मीडिया वाचन को बहुत अधिक प्रभावित करती दिखाई देती है। 'थ्री इडिएट्स' के प्रसंग में यह बात खूब कर आई है कि जो यश और धन मीडिया में है, लेखक को मात्र साहित्यिक बने रहने से वह नहीं मिल सकता, मीडिया का सहारा जिन साहित्यकारों को मिल जाता है वे रातोंरात सेलेब्रिटी बन जाते हैं– कमोडिटी बन जाते हैं, चाहे वह अपनी अरुंधती राय हों या हैरी पोट्टर वाली जे.के. रोलिंग, मीडिया बिकाऊ मसाले की पहचान करता है, उसका परीक्षण करता है, और साहित्य लोक–रुचि के नाम पर उसे आत्मसात् करने लगता है, मीडिया यों तो सैद्धांतिक रूप से तथ्य और वास्तविकता पर आधारित होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में हम उसे एक ऐसी आभासी दुनिया रचते हुए देखते हैं जिसमें सब कुछ बड़ा ग्लैमरस है, इस ग्लैमर का दबाव हमारे आज के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है, आज की अनेक कहानियाँ और कविताएँ अनुभवाधारित नहीं हैं; मीडिया की सूचना से उत्पन्न उत्तेजना पर आधारित हैं।

3. मीडिया की सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका : हमारा मीडिया निभाना तो चाहता है– समाज और संस्कृति के उन्नायक और मार्गदर्शक की भूमिका भी, लेकिन उसकी अपनी सीमाएं उसे ऐसा करने नहीं देतीं, बड़े–बड़े मीडिया घराने सामाजिक बदलाव या सांस्कृतिक जागृति के लिए अखबार और चैनल नहीं चलाते उनके लिए पत्रकारिता न तो मिशन है और न कोई आंदोलन, वह मुनाफे का एक धंधा भर है, अगर यह मुनाफा 'प्रेम' को बेच कर मिलता है तो ठीक है, और अगर 'बेवफाई' को बेच कर मिले तो भी उतना ही ठीक! परन्तु ऐसे पत्रकारों की कमी नहीं है जिनके पास अपना सामाजिक–सांस्कृतिक विज़न है और वे तमाम तरह के बाजारवाद के बीच भी अपनी आवाज़ सुनाई न देती होगी, पर जब कई सारी तूतियाँ एक साथ बजें तो कुछ तो असर होगा न? समान्तर सिनेमा और जनभागीदारी वाले सामाजिक टीवी आयोजन और सामुदायिक रेडियो, ऐसे कुछ प्रयासों के रूप में देखे जा सकते हैं, आप कह सकते हैं कि अधिसंख्य हिन्दी सीरियल मुनाफा कमाने के लिए द्रौपदी का चीर बनते चले जाते हैं, लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व भी इन्हीं सीरियलों के माध्यम से संप्रेषित और परिपुष्ट हो रहे हैं, यहाँ ध्यान रखने वाली बात यह भी है कि प्रस्तुतीकरण की ज़रा सी सावधानी इन्हीं सीरियलों को 'कुशिक्षा' का पाठ बना सकती है– 'बालिका वधु', 'अगले जनम...', 'लाडो' और 'प्रतिज्ञा' में खल पात्रों और उनकी गतिविधियों को जिस तरह हाईलाईट किया गया है, उससे तो विकृति का पक्ष ही अधिक पुष्ट होता दिखाई देता है, कभी–कभी तो मीडिया से यह सवाल करने का मन होता है– क्यों रे मीडिया, तेरा अवतार लोगों को प्राइम–टाइम में बलात्कार, वधू दहन और विधवाओं के मानवधिकार की हत्या का सामूहिक प्रशिक्षण देने के लिए हुआ था क्या? कोई इसके सीने पर बन्दूक तान कर यह क्यों नहीं पूछता–तेरा क्या होगा रे मीडिया?

4. बाज़ार और साहित्य : दरअसल बाज़ार आज के समाज में एक ऐसा नियामक बिंदु बन गया है जिसके इर्द–गिर्द दूसरी तमाम चीजें, उपग्रहों की तरह चक्कर काट रही हैं, साहित्य पर भी इसका प्रभाव साफ़ दिखाई दे रहा है, साहित्य के जनता तक पहुँचने का मार्ग बाज़ार से होकर जाता है इसलिए साहित्य भी बिकाऊ माल और साहित्य रचना उत्पादन प्रक्रिया बन गयी है। प्रकाशकों से पूछिए कि क्या बिकता है तो वे बता देंगे कि बाज़ार की मांग क्या है, मांग के अनुरूप आपूर्ति कीजिए तो आप मालामाल हो जाएंगे वर्ना आपकी कविताएं डायरियों में पड़ी पड़ी दीमकों का भोजन बनती रहेंगी, कुछ दशकों से एक आँधी सी चली है जिसमें तथाकथित स्त्री–विमर्श बिकता है, दलित–विमर्श बिकता है, पर्यावरण–विमर्श बिकता है, इसलिए इनके नाम पर कुछ भी लिखिए और चर्चित हो जाइए।

5. बाज़ार और मीडिया : भूमंडलीकरण बाज़ार और मीडिया के पंखों पर चढ़कर ही हमारी ज़मीन पर उतरा है, बाज़ार के लिए सब कुछ माल है और मीडिया के लिए सब कुछ सूचना, मीडिया माल को सूचना बनाता है तो बाज़ार सूचना को माल बना देता है, दोनों ने मिलकर साधारण मनुष्य के मस्तिष्क पर धावा बोल दिया है, आम हिन्दुस्तानी के इस मस्तिष्क में पहले मूल्य नाम की एक वस्तु रहा करती थी। वैश्विक मूल्य, जिसके कारण वह दुनिया को अपना ही विस्तार समझता था, अपना कुटुंब मानत था। अब इस वैश्विक मूल्य के स्थान पर यह वैश्विक विमर्श निवास करता है कि सारी दुनिया बाज़ार है और बाज़ार में कोई किसी का आत्मीय नहीं होता, मीडिया इस बाजार का अस्त्र बन गया है जो सुबह शाम मौके–बेमौके हमें कुछ न कुछ बेचता रहता है कुल किस्सा यह कि आज दर्शक केवल उपभोक्ता है, इसलिए मीडिया रूपी बाज़ार उसके लिए टाइम–स्लाट तय करता है। सुबह सवेरे वह हमें स्वास्थ्य और योग बेचता है, दोपहर को उसने 'घरेलू' औरतों के नाम कर दिया है, शाम मर्दों की हैं, रात्रिमुख परिवार की खातिर, जैसे–जैसे रात गहराती जाती है तरह तरह की भयानक और हिंसक सामग्री निशाचरों के लिए परोसी जाने लगती है। बच्चों के लिए भी वक्त तय किया गया है। मज़ा यह है कि हम सोचते तो यह हैं कि अमुक कार्यक्रम देख–सुन रहे हैं लेकिन वास्तव में हमें जबरन विज्ञापन दिखाए जा रहे होते हैं।

6. मीडिया की भाषिकी : भाई, मैं तो इस बात का कायल हूँ कि यह सारी सृष्टि शब्द से उत्पन्न हुई है, शब्द ही वह मूल ऊर्जा है– अमूर्त ऊर्जा है– जिसने मूर्त होकर जगत रचा, इसलिए मेरे निकट साहित्य, बाज़ार और मीडिया भाषा की

विधाएँ हैं– तीनों में सम्प्रेषण का चमत्कार है, मैं तो कहूँगा, भाषा ही वह चित्ति–शक्ति है जो इन तीनों लोकों में व्याप्त रही है, मीडिया ने भाषा की इस सर्वव्यापकता को पहचाना है और अपने लक्ष्य समाज को संबोधित करने के लिए भाषा के अलग–अलग अवतारों को आजमाया है। कुछ लोग इस बात पर बहुत नाराज़ दिखाई देते हैं कि बाज़ार और मीडिया ने भाषाओं की शुद्धतावाद को किनारे कर दिया है, नया समाज बन रहा है– नए सामाजिक संबंध बन रहे हैं, इसलिए मीडिया का काम पुरानी भाषा से नहीं चल सकता, वह नई–नई भाषा गढ़ता है। इसमें दो राय नहीं कि कुछ अखबारों और कार्यक्रमों में जो हिन्दी में अविवेकपूर्वक इतनी अंग्रेजी घुसा दी जा रही है कि उसे हिन्दी कहना ही संभव नहीं है। यह प्रवृत्ति बिलकुल भी स्वीकार्य नहीं है, लेकिन एक दूसरी बात बहुत रोचक है। वह यह है कि– ग्लोबलाइजेशन के साथ–साथ जैसे स्थानीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है, वैसे ही हिन्दी–मीडिया के व्यापक प्रसार के साथ बोलियों के मिश्रण की प्रवृत्ति और भारतीय भाषाओं से शब्द–ग्रहण की प्रवृत्ति भी बड़े ज़ोरों से बढ़ी है, जाने कितने गुजराती, मराठी और पंजाबी के शब्द तथा भोजपुरी, मारवाड़ी, पहाड़ी की अभिव्यक्तियाँ कितने ही कार्यक्रमों के माध्यम से अखिल भारतीय हिन्दी के सार्वदेशिक रूप का निर्माण करने में संलग्न हैं। एक ज़माना था जब सरकारी मीडिया एक ख़ास तरह की तत्सम प्रधान हिन्दी बोलता था और श्रोता का मन डोलता था। वहीं आज का समय है जब मीडिया ने यह स्वीकार कर लिया है कि भाषा का एकरूपी होना सम्भव नहीं है। विषमरूपी हिन्दी की विविध छटाएं आज दुनिया भर के हिन्दी समझने वालों को एक सूत्र में बाँध रही है, निश्चय ही हिन्दी की अभिव्यक्ति क्षमता को मीडिया ने अनेक कसौटियों पर परखा है और हिन्दी ने यह साबित कर दिखाया है कि ज्ञान–विज्ञान से लेकर मनोरंजन तक हर क्षेत्र को पूरी तरह अभिव्यक्त और संबोधित करने में हिन्दी सर्वसमर्थ है। विज्ञापन के माध्यम से भी आज हिन्दी दुनिया भर में फैले हिन्दी भाषी बाज़ार को संबोधित कर रही है, कहना न होगा कि हिन्दी अपनी ताकत से मीडिया पर हावी हो रही है, कभी–कभी जब मीडिया हिन्दी पर हावी होने लगता है तो हिंगलिश जैसी अटपटी शैली सामने आती है जिससे बचना ज़रूरी है, अन्यथा आज का मीडिया हिन्दी की अनेकवर्णी विविधता का जीता–जागता आईना बन गया है।

डॉ. आलोक पाण्डेय–

1. साहित्य और मीडिया का सम्बन्ध : मीडिया यानी प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक, दोनों पत्रकारिता माध्यमों का सम्बन्ध साहित्य से पहले जितना था अब उतना नहीं रहा। शुरुआत के अधिकांश बड़े साहित्यकार पत्रकारिता भी करते थे। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। साहित्यिक संस्पर्श पत्रकारिता को मार्मिक और भाषा को रचनात्मक बनाता है। आप आज भी कहीं भी देख लें; प्रभाष जोशी की पत्रकारिता हो या विनोद दुआ, कमाल खान या रवीश कुमार की रिपोर्टिंग, उनके तेवर एक अलग ही प्रभाव पैदा करते हैं और यही इन पत्रकारों की विशेषता है। पत्रकारिता साहित्यकार को तथ्यपरक और यथार्थोन्मुख बनाती है। दोनों की मैत्री दोनों के लिए और

> ये हवा नहीं आंधी है, खिड़कियों को खुला क्या छोड़ दिया इन हवाओं ने घर को ही उड़ा दिया, काश हिन्दी समाज सबल और प्रबल होता और उसके पास एक अदद चरित्र भी होता।

अंततः समाज के लिए लाभप्रद है। जहाँ तक मीडिया में साहित्य के लिए जगह की बात है तो वह समाज जैसी ही है, जहाँ साहित्यकारों की दुनिया में ही एक दूसरे के साहित्य के लिए सम्मान नहीं है वहाँ आम आदमी और मीडिया से क्या अपेक्षा?

2. साहित्य पर मीडिया का दबाव : साहित्य पर मीडिया का दबाव उतना प्रबल नहीं है, जो लोग सीरियल या सिनेमा के लिए लिखना चाहते हैं, वे इस दबाव में जरूर हैं, इस दबाव का दुष्परिणाम यह जरूर होता है कि कई प्रतिभाएं जो प्रेमचंद हो सकती थीं गुलशन नंदा बन कर रह जाती हैं, इस प्रकार का लेखन अक्सर सस्तेपन का शिकार होता है और साहित्य के मूल उद्देश्यों से दूर।

3. मीडिया की सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका : मीडिया से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मनुष्य और समाज का परिष्कार और उन्नयन करेगा, उसे संस्कारित करेगा। मीडिया की शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षाएं अनुचित नहीं हैं, पर यह उद्देश्य उस मीडिया के होते हैं जिसके सपनों और कर्मों में समाज और मनुष्य का निर्माण और उत्थान होता है। दुर्भाग्य से व्यावसायिक उद्देश्यों से चालित मीडिया का एकमात्र उद्देश्य होता है, किसी भी प्रकार मुनाफा कमाना और अपने मालिक के हित की पूर्ति करना और कई बार यह निजी पूँजी काली होती है। ऐसे धन में नियंत्रित मीडिया कौन सी सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका अदा करेगा?

4. बाजार और साहित्य : दरअसल दोनों दो प्रकार के मूल्यों के प्रतीक हैं जो परस्पर विरोधी भी हैं..। बाजार मनुष्यता–विरोधी होता है जब कि साहित्य की बुनियादी चिंता ही मनुष्यता की होती है। बाजार लोभ और शोषण की बुनियाद पर मुनाफे की चिंता करता है कि जब कि साहित्य इसके विपरीत और पूंजीवादी समाजों में तो बाजार कई कदम आगे जाकर साहित्य और साहित्यकारों को भी अपने उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करना चाहता है। एक कोरियाई कंपनी द्वारा हाल ही में दिए गए साहित्यिक पुरस्कारों को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

5. बाजार और मीडिया : इनका सम्बन्ध बहुत गहरा है और ये बहुत दूर तक एक दूसरे पर आश्रित भी हैं, बाजार से मीडिया को विज्ञापन अर्थात धन मिलता है। यह उनकी आय का सबसे बड़ा श्रोत है और बाजार को विज्ञापनों के द्वारा ग्राहक, यह एक सर्किल है, लेकिन इस मैत्री के दुष्परिणाम भी

कई होते हैं। सबसे पहले तो विज्ञापनदाता चाहे वह सरकार हो या उद्योगपति मीडिया को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करना चाहता है। मीडिया यदि इन शर्तों को मानता है तो अपने ईमान से जाता है और यदि नहीं मानता है तो धंधे से। दूसरे–मीडिया विज्ञापनों के सामाजिक दुष्प्रभावों की कोई परवाह नहीं करता, जिनके परिणाम भयानक होते हैं...। मीडिया हो या समाज या सरकार यदि उसका नियंत्रण पूंजीवादी शक्तियों के हाथों में होता है तो अंततः उनका चरित्र जनविरोधी और समाज विरोधी होता है।

6. मीडिया की भाषिकी : इससे आप का क्या तात्पर्य है? भाषा से या उसके निर्माण के पीछे की राजनीति से? मैं दोनों ही मान कर बारी–बारी अपनी बात रखता हूँ।

मीडिया कि भाषा सरल, सहज, रचनात्मक, मुहावरों–कहावतों और साहित्यिक सुगंध वाली होनी चाहिए। जैसी प्रभाष जोशी, विनोद दुआ, रवीश कुमार और कमाल खान की है, लेकिन मीडिया मालिकों ने सरल और आम फहम भाषा के नाम पर जो हिंगलिश की खिचड़ी परोसी है वह भाषा को ही भ्रष्ट नहीं करती है। मनुष्य और समाज की भाषिक संस्कृति को भी विकृत करती है, किसी भी जागरूक समाज को इसे रोकना चाहिए, जो दुर्भाग्य से हम नहीं हैं।

भाषिकी के सन्दर्भ में सोचें तो इस भाषा के निर्माण के पीछे की राजनीति को समझना होगा, यह अंग्रेजी को थापित करने की चालाक कोशिश है, हम भाषा में सोचते–विचारते और अपने को अभिव्यक्त करते हैं। यदि हमारी भाषा कमजोर और विकृत होती है तो निश्चित रूप से ये सभी क्रियाएँ भी दुर्बल होती हैं। दुर्बल भाषा वाली जाति अंततः पतन को प्राप्त होती है। कोई भी समाज खिचड़ी भाषा और खिचड़ी संस्कृति वाला बन कर सिर्फ उपभोग में जिए, कमाए और खाये, सिर्फ अपने बारे में सोचे और सिर्फ पशु बन कर रह जाये, यह पूंजीवाद की सबसे बड़ी चाहत होती है। हम इस चाहत के नए शिकार हैं, इसीलिए अखबारों, पत्रिकाओं के नाम हों या टीवी चैनेल्स के नाम आजकल अंग्रेजी में दिखते हैं, उनके भीतर की भाषा के तो कहने ही क्या।

ये हवा नहीं आंधी है, खिड़कियों को खुला क्या छोड़ दिया इन हवाओं ने घर को ही उड़ा दिया, काश हिन्दी समाज सबल और प्रबल होता और उसके पास एक अदद चरित्र भी होता। ••••

'परमिता' के सदस्य बनें

कृपया निम्नलिखित फार्म में मांगे गये विवरण भरकर इस पूरे पृष्ठ को काट लें और तत्पश्चात् इस फार्म को 'परमिता' के पक्ष में देय उपयुक्त एकाउंट पेई चेक / ड्राफ्ट / मनीआर्डर के साथ निम्नलिखित पते पर भिजवाने का कष्ट करें–

'परमिता' त्रैमासिक शोध-पत्रिका

N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005

दूरभाष– 09838077923 • ईमेल : parmita.com@gmail.com

सदस्यता विवरण

• मैं निम्न प्रकार की सदस्यता ग्रहण करना चाहता हूँ:

निशान लगायें	सदस्यता का प्रकार	देय राशि
☐	संरक्षक सदस्य	10,000रु.
☐	आजीवन सदस्य (व्यक्तिगत)	1000रु.
☐	आजीवन सदस्य (संस्थागत)	2000रु.

• कृपया वाराणसी से बाहर के चेकों के लिए 30रु0 अतिरिक्त जोड़ें।

अन्य विवरण कृपया नीचे दिये गये फार्म में भरें

चेक / ड्राफ्ट का विवरण इस प्रकार है :

चेक / ड्राफ्ट नं0.....राशि.....

तिथि .....बैंक .....

अन्य विवरण इस प्रकार है :

नाम :.....

व्यवसाय (आजीविका का साधन) :.....

पत्रिका मंगवाने का पता (पिनकोड सहित) :.....

.....

.....दूरभाष : .....

ईमेल (अंग्रेजी के कैपिटल लेटर में) :.....

विमर्श

नवजागरणकालीन पत्रकारिता और स्त्री विमर्श

(तेलुगु भाषा के सन्दर्भ में)

प्रो. पी. माणिक्याम्बा 'मणि'

19वीं शताब्दी में मुद्रण–कला के विकास के साथ गद्य साहित्य का विकास हुआ। समूचे भारत में पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। तेलुगु भाषा के क्षेत्र में भी 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही पत्रकारिता का विकास हुआ। तेलुगु पत्रकारिता में कंदुकूरि वीरेशलिंगम् का महत्वपूर्ण स्थान है। वीरेशकिंगम् से पहले भी 15–20 पत्रिकाएं निकलती थीं जिनमें वृत्तान्तिनी (1930–42) पत्रिका महत्वपूर्ण थी जो मद्रास (चेन्नई) से निकलती थी। "वेद समाज" जिसे ब्रह्म समाज का पूर्वरुप माना जाता है, उसके तत्वावधान में 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका 1864 से निकलने लगी। इस पत्रिका में धर्म सम्बन्धी 5वें समाज सुधार से संदर्भित लेखों को प्रकाशित किया जाता था। इस पत्रिका में स्त्री पुनर्विवाह सम्बन्धी लेख के प्रकाशन के साथ तेलुगु पत्रकारिता के क्षेत्र में स्त्री विमर्श का प्रारम्भ माना जा सकता है। श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम् ने स्वीकार किया कि 'तत्त्वबोधिनी' के इस लेख से वे प्रभावित थे। इस पत्रिका में स्त्री पुनर्विवाह सम्बन्धी लेख, जो सरल शैली में लिखे जाते थे, प्रायः प्रकाशित होते थे। "आन्ध्र भाषा संजीवनी" 5वें 'पुरुषार्थप्रदायिनी" पत्रिकाओं में भी धार्मिक, सामाजिक 5वें राजनीतिक विषयों पर चर्चा होती थी। 'पुरुषार्थ प्रदायिनी में धुआँधार बहस छिड़ गया कि स्त्री पुनर्निवाद शास्त्र सम्मत है या नहीं?पक्ष में विपक्ष में तत्कालीन विद्वानों 5वें समाज–सुधारकों के गंभीर लेख प्रकाशित होते थे। मद्रास से ईसाई मिशनरियों की देख–रेख में "The native Public opinion" नाम की अंग्रेजी पत्रिका निकलती थी जिसका डाक भाग तेलुगु का होता था। राजमहेन्द्र से "The Godavany Education" नामक पत्रिका अंग्रेजी भाषा में निकलती थी जो डाक मासिक पत्रिका थी। इसमें भी तेलुगु का एक भाग था जिसका संपादन कीरेशलिंगम् करते थे और अंग्रेजी विभाग के संपादक थे रेवरेण्ड बारी जो राजमहेन्द्री के सरकारी विद्यालय के प्रधान अध्यापक थे। इनमें समाचारों के साथ धर्म सम्बन्धी एवं अन्य रचनाएं भी प्रकाशित होती थी। कहना न होगा कि इन अंग्रेजी पत्रिकाओं के साथ तेलुगु विभाग वीरेसलिंगम के प्रयासों से ही जुड़ सके। बाद में स्वयं वीरेशलिंगम् ने तेलुगु में "विवेकवर्धिनी" पत्रिका का प्रकाशन किया। वे स्वयं इसके संपादक थे। इस पत्रिका के प्रकाशन के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया कि स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करना और अपने समाज सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रचार–प्रसार प्रमुख उद्देश्य थे। इस पत्रिका के माध्यम से सरकारी कर्मचारियों में घूसखोरी को दूर करना। सनातन धर्म के स्थान पर शुद्ध आस्तिक धर्म का प्रचार करना भी उनका लक्ष्य रहा। यह ध्यातव्य है कि वीरेशलिंगम् ब्रह्म समाज से प्रभावित थे और बाद में उसमें विधिवत् दीक्षित भी हुए थे। "विवेक वर्धिनी" पत्रिका में साहित्य को उचित स्थान मिलता था फिर भी समाज सुधार सम्बन्धी सामग्री को ही प्रमुख स्थान मिलता था। वीरेशलिंगम् ने 'चिन्तामणि' पत्रिका 'सत्य संवर्धिनी' पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी किन्तु 'विवेकवर्धिनी' पत्रिका अपने सुधारवादी विचारधारा की प्रतिबद्धता के लिए प्रसिद्ध थी। वीरेशलिंगम् के लिए साहित्य रचना का उद्देश्य भी प्रायः समाज सुधार की चेतना का विकास करना ही रहा। इस पत्रिका में बाद में एक अंग्रेजी भाग का प्रकाशन भी प्रारंभ हो गया था। 'विवेकवर्द्धिनी' का महत्व इसलिए बढ़ गया कि इस पत्रिका के माध्यम से वीरेशलिंगम् के विचारों का प्रसार भारत के अनेक भागों संभव हो सका। इस पत्रिका में स्त्री शिक्षा एक स्त्री पुनर्विवाह– इन दो महत्वपूर्ण विषयों पर प्रायः चर्चा होती थी जिससे जनमानस इन समस्याओं पर सोचने के लिए मजबूर हो गया। प्रतिक्रिया चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में तीव्र वाद–विवाद तो होता ही था।

> स्त्रियों की अनेक रचनाएं 'तेलुगु जनानी' पत्रिका में प्रकाशित होती थीं। उन लेखों में स्त्रियों की प्रतिबद्धता, समस्याओं के प्रति सुलझी हुई दृष्टि एवं व्यक्तित्व का विकास परिलक्षित होता था। इस पत्रिका में लिखने वाली कुछ महिलाओं ने पुरुषों की सहायता के बिना ही पत्रिकाओं को चलाया। समाज में चेतना लाने का सार्थक प्रयास किया।

1883 में वीरेशलिंगम् ने स्त्रियों के लिए विशेष पत्रिका निकाली जिसका नाम था– 'सतीहित बोधिनी' के मुख्य पृष्ठ पर एक श्लोक छपता था–

आरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिभिः।
आत्मानमात्मनायास्तु रक्षेयुस्तास्सुरक्षितः।।

(आप्त पुरुषों द्वारा घर में अवरुद्ध स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं होती है, अपने आपको सुरक्षित रख सकनेवाली स्त्रियाँ ही सुरक्षित होती है।)

जिस समय 1 प्रतिशत स्त्रियाँ भी शिक्षित नहीं थी, तब यह कैप्सन उनकी सुधार सम्बन्धी महत्वकांक्षा का हो द्योतक है। इस पत्रिका में स्त्रियों के लिए उपयोगी, ज्ञानदायी, शास्त्र एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते थे। साहित्यिक रचनाओं को, जो स्त्रियों से सम्बन्धित हों प्रकाशित किया जाता था। मद्रास प्रेसिडेंसी के विभिन्न शहरों से विशेष रुप से राजमहेन्द्री एवं मद्रास से विभिन्न पत्रिकाएं निकलने लगी थी। आन्ध्र प्रकाशिका (1885), हिन्दू जन संस्कारिणी (1885) सत्य संवर्धिनी (1891)

शशिलेखा (1894) देशाभिमानी (1896) आदि। इन सभी पत्रिकाओं में सामाजिक दुराचारों के विरुद्ध आवाज उठायी जाती थी। स्त्रियों की शिक्षा का प्रोत्साहन और बाल विवाह के विरोध के साथ इन पत्रिकाओं में स्त्रियों की अनेक समस्याओं पर विचार किया गया था। 'सतीहित बोधिनी' पत्रिका ने स्त्री–शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया जो उस समय की समाज सुधारकों सबसे प्रिय एवं प्रमुख विषय था। उस समय के सभी पत्रिकाओं का उद्देश्य प्रायः समाज सुधार ही होने के कारण, समाज का आधा भाग–स्त्रियों की समस्याओं पर केन्द्रित था, केवल स्त्रियों के लिए पत्रिका का विचार युगानुरुप ही था। इस विचार को क्रियान्वित करने का साहस वीरेशलिंगम् के अतिरिक्त और कौन कर सकते?उस युग में विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह के पक्षधर होने के कारण पूरे समाज ने उनके साथ जो दुश्मनी निभायी–इतिहास इसका साक्षी है। इस प्रकार 'सतीहित बोधिनी' स्त्रियों के लिए पहली पत्रिका थी।

1983 से "तेलुगु जनाना" पत्रिका मल्लादिवेकटरत्नम् के संपादन में निकलने लगी थी। बाद में वीरेक्षलिंगम् और रामसम् वेंकट शिबुडु इन दोनों ने कुछ दिनों तक इस पत्रिका का संपादन किया। किन्तु तेलुगु की यह पहली पत्रिका है जिसकी संपादक महिला बनी। इस पत्रिका में भी स्त्रियों की समस्याओं की ही चर्चा होती थी। स्त्रियों की गतिविधियों पर भी प्रकाश डाला जाता था। इस पत्रिका की विशेषता यह थी कि इस पत्रिका ने समाज में स्त्रियों को प्रभावित किया। स्त्रियों ने लिखना आरंभ किया।

1893 में श्रीमती कौस्तुभम् ने 'स्त्रीहितबोधिनी' नामक पत्रिका का संपादन किया। शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इस पत्रिका में स्त्री सम्बन्धी विषयों को ही लेकर स्त्रियों के लिए ही यह पत्रिका चलायी गयी। यह पत्रिका काकिनाडा (आन्ध्र प्रदेश) से निकलती थी।

बीसवी शताब्दी के उदय काल में महिलाओं द्वारा महिलाओं के लिए 'हिन्दू सुन्दरी' पत्रिका श्रीमती रामाबाई के संपादन में 1902 से निकलने लगी। यह पत्रिका लगभग 1945 तक प्रकाशित होती रही। स्त्रियों की समस्याओं के लेखों के अलावा स्त्रियों द्वारा लिखी गयी कहानियाँ और गीत भी प्रकाशित होते थे। इस पत्रिका में महिलाओं ने अपने सारगर्भित लेखों के द्वारा अशिक्षा के कारण स्त्रियों में व्याप्त अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिए प्रयत्न किया। स्त्री–समुदाय ने अपने लेखन द्वारा अपने समाज में व्याप्त सामान्य बुराइयों को दूर करने का प्रयास करते हुए उन्हें विवेकशील बनने की प्रेरणा दी। "हिन्दू सुन्दरी" में अपने लेख में श्रीमती अचमाम्बा ने स्त्रियों से अपील की कि विवेक के साथ वे सुखमय जीवन बितायें। उन्होंने बताया कि मानव मात्र को अपना जीवन सुखमय बनाना चाहिए। जीवन के तनावों की थकान से शांति सुख को बाँटते हुए ही पाया जा सकता है। सुख बाँटने की शक्ति गृहिणी में ही रहती है। श्रीमती रामाबाई ने "घर में करने योग्य महान् कार्य" शीर्षक अपने लेख में लिखा था कि "परिवार के सदस्यों में आपसी सद्भाव एवं सौमनस्य महत्वपूर्ण है। परिवार के रुग्ण व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए। इससे एक तरह का मानसिक सन्तोष मिलता है। यह समाज सेवा के समतुल्य है।" उन्होंने सामाजिक जीवन में और परिवार में माँ के महत्वपूर्ण स्थान को रेखांकित करते हुए लिखा था– "माँ, हमारा सर्वस्व है। माँ ही सन्तान के चरित्र का निर्माण करती है। माँ के प्रयत्नों से ही अच्छे संस्कारों के बीज बुद्धि में अंकुरित होते हैं। भारत देश में माँ ही शासन करती है, वह हमारे घरों में निवास करती है, उसका प्रेम कभी नहीं मरता।" इस प्रकार के कथनों से स्पष्ट है कि तत्कालीन स्त्री लेखन में स्त्रियों में सुप्त स्त्रियोचित गुणों को उभार कर, उन्हीं गुणों के कारण समाज में गर्व के साथ अपने अस्तित्व को रेखांकित करते हुए जीने को कला की विकसित करने का प्रयास था। आन्ध्र के ये स्त्री–रचनाकार शिक्षित थे और पाश्चात्य जीवन शैली एवं चिन्तन से परिचित थे, फिर भी इनके चिन्तन और विचारधारा पर भारतीय जीवन शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्रीमती शेखम्मा ने अपना लेख "हमें कथा चाहिए" आदि लेखों में केवल स्त्री समस्या पर न लिखकर व्यापक सामाजिक जीवन पर प्रकाश डाला उन्होंने मानवता के विकास के लिए सेवा भाव की आवश्यकता पर जोर दिया।

1904 वर्ष से "सावित्री" पत्रिका काकिनाडा से प्रकाशित होने लगी। महिला–कार्यकर्ता श्रीमती लक्ष्मी नरसम्मा इस पत्रिका की सम्पादक थी। विचारों में और चिन्तन में एक तरह की प्रखरता इनके लेखों में लक्षित होती है। उनके समय स्त्रियाँ इस दुविधा में थी कि वे उच्च शिक्षा कैसे प्राप्त करें। उन्होंने स्त्रियों को सलाह दी स्त्रियाँ अवश्य शिक्षा प्राप्त करें। यदि स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त नहीं करेंगी तो पुरुषों से अपने को हीन मानकर हीनभावना ग्रसित होगी। ज्ञान एक अथाह सागर के समान है। जो थोड़ी शिक्षा मिली उससे सन्तुष्ट न रहकर अन्तरंग के अवलोकन के लिए और विचारों की स्पष्टता के लिए स्त्रियों को निरन्तर अध्ययन शील होना चाहिए।" इस महिला ने एक महत्वपूर्ण विचार विधवा विवाह के सन्दर्भ में भी व्यक्त किया। उन्होंने यह सन्देह व्यक्त किया कि विधवा–विवाह करने वाले सभी पुरुष सदाशय एवं समाज सुधार प्रेमी नहीं रहते। इसलिए इस सन्दर्भ में जागरुक रहना चाहिए। 'आन्ध्र पत्रिका' में श्रीमती चन्द्रम्मा ने अपने लेख में यह प्रश्न उठाया कि स्त्री और पुरुष में कौन बड़े हैं महान् है? इसकी चर्चा करते हुए प्राचीन वैदिक और उपनिषत् साहित्य से उदाहरण देते हुए, यह प्रतिपादित किया है कि स्त्री पुरुष से किसी भी क्षेत्र में कम नहीं है। श्रीमती शेषम्मा ने 1904 के 'हिन्दूसुन्दरी' पत्रिका में स्त्रियों को अपने निर्णय स्वयं लेने की प्रेरणा दी। समाज की टीका–टिप्पणी पर ध्यान न देने की सलाह दी और उनमें आत्म विश्वास को बढ़ाने का प्रयत्न किया। उस समय ब्रह्म समाज की विचारधारा से प्रभावित कुछ महिलाओं ने 'हिन्दू सुन्दरी' के कुछ अंकों में अपने विचारों को व्यक्त किया मूर्ति पूजा की विवेचना करते हुए उन्होंने विचार व्यक्त किया कि परमात्मा सर्वान्तर्यामी है। उनका मानना था कि व्रत पूजा, उपवास आदि ज्ञान के अभाव के कारण स्त्रियों में व्याप्त थे। इस प्रकार तत्कालीन स्त्री–लेखन में ब्रह्म समाज के विचारों का प्रभाव और सामाजिक अन्धविश्वासों के विरोध के स्वर भी मुखरित होने लगे थे। स्त्री पुनर्विवाह के सन्दर्भ में स्त्रियों के वाद–विवाद से भरे आग्रह पूर्ण और आवेगपूर्ण लेख इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। इस पत्रिका में महिलाओं ने बाल–विवाहों का विरोध किया और उससे उत्पन्न दुष्परिणामों पर विस्तार से प्रकाश डाला। 'हिन्दू सुन्दरी' के अनेक लेखों में लेखिकाओं ने अनुभव किया कि विज्ञान के ज्ञान

विमर्श

हिन्दी मीडिया की भाषिकी

प्रो. सुवास कुमार

आज मीडिया का उद्देश्य लाभ कमाना है। इसमें खबरों से ज्यादा विज्ञापन उत्पाद है। मीडिया उच्चवर्ग के पक्ष में सहमति निर्मित करने का सबसे कारगर औजार बन गया है। मीडिया को पता है कि विकास से संबंधित विषय बिकाऊ नहीं होते अतः वह कुपोषण, भूख, झुग्गी झोपड़ी, गरीबी, बेकारी और ग्रामीण समस्याओं को क्यों दिखाये। सो वह ज्ञान बूझकर भूत-प्रेत, अपराध, तंत्र-मंत्र, सेक्स, रहस्य आदि को मसालेदार बनालाकर पेश करता है। (याद कीजिए मटुकनाथ-जूली प्रसंग, मीका-सखी चुम्बन प्रसंग, राखी और राहुल महाजन की शादियों को लेकर बनाये गये रियलिटी शो, डी.आई.जी. पडा-प्रसंग वगैरह)।

एक पुरानी मगर प्रासंगिक किताब के उल्लेख से बात रखना चाहूँगा– सौ साल पहले गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' लिखा था, जिसकी शतवार्षिकी मनाने के उपलक्ष्य में हम सबने पिछले दिनों पढ़ा, चर्चा की और फिर हस्वमामूल भूलने भी लग गये हैं। गाँधी की बात मैं उद्धृत करूँ तो अखबारों के बारे में उनकी दो टूक राय यह थी कि "अखबार अप्रामाणिक होते हैं, एक ही बात को दो शक्लें देते हैं। एक दलवाले उसी बात को बड़ा बनाकर दिखाते हैं, तो दूसरे दलवाले उसी को छोटा कर डालते हैं। जिस देश में ऐसे अखबार हैं उस देश के आदमियों की कैसी दशा होगी.....?" यहाँ हमें रुककर सोचना चाहिए कि मीडिया का कोई सम्मिलित एक स्वर नहीं होता और सैद्धान्तिक रूप से जनपक्षी मीडिया भी संभव है, लेकिन जैसा कि हम सब जानते हैं, पूँजी का कारोबार ऐसा है कि जनपक्षी मीडिया अगर हो भी तो उसकी स्थिति नक्कारखाने में तूती की आवाज भर रह जाती है। गाँधी जी पश्चिमी सभ्यता के कट्टर विरोधी थे और पश्चिमी सभ्यता के प्रचारकों की चालाकियों को समझते थे। वे लिखते हैं– "हम जो बातें पढ़ते हैं वे सभ्यता की हिमायत करने वालों की बातें होती है। उनमें बहुत होशियार और भले आदमी हैं। उनके लेखों से हम चौधिया जाते हैं। यों एक के बाद दूसरा आदमी उसमें फँसता जाता है.....। आज हर कोई चाहे जो लिखता है और छपवाता है ओर लोगों के मन को भरमाता है। यह सभ्यता की निशानी है।"

हमें गाँधी जी की यह बात तत्कालीन अंग्रेजी पत्रकारिता के सन्दर्भ में देखनी चाहिए जो अंग्रेजी शासन के इशारे पर पनप रही थी। वे "हिन्द स्वराज" में लिखते हैं– "करोड़ों लोगों को अंग्रेजी में शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है.....। यह कितने दुःख की बात है कि स्वराज की बात भी पराई भाषा में करते हैं.....?अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ने प्रजा के ठगने में, उसे परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है.....। क्या यह कम जुल्म की बात है कि अपने देश में अगर मुझे इंसाफ पाना है तो अंग्रेजी भाषा का उपयोग करना चाहिए....। सारे हिन्दुस्तान के लिए जो भाषा होनी चाहिए वह तो हिन्दी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट होनी चाहिए।"

गाँधी जी सारी समस्याओं की जड़ पश्चिमी सभ्यता को मानते थे और इस बारे में उनका निष्कर्ष था कि– "पश्चिम की सभ्यता को निकाल बाहर करने की ही हमें कोशिश करनी चाहिए। दूसरा सब अपने आप ठीक हो जायेगा।" इधर इन सौ वर्षों में हुआ यह है कि हम पश्चिमी सभ्यता में रंगाते गये और पिछले तीस वर्षों में वैश्विक ग्राम की अवधारणा के बहाने तो पश्चिमी सभ्यता में गले तक डूब ही चुके और लगता है कि इससे निस्तार नहीं होने का। भाषा को लेकर भारत में अंग्रेजी और हिन्दी पत्रकारिता की नीयत में आरम्भ से ही फर्क रहा है। हिन्दी में प्रेस को उसकी जनोन्मुखी भावनाओं के कारण अंग्रेजों का कोप–भाजन भी बनना पड़ा था। हिन्दी पत्रकारिता आरम्भ में मिशन थी जबकि अंग्रेजी पत्रकारिता व्यवसाय। मोटे तौर पर अंग्रेजी पत्रों का इतिहास अंग्रेजों की खुशामद करके विज्ञापन और दूसरे लाभ हासिल करने का रहा है जबकि हिन्दी पत्रों को जुर्माना भरना पड़ता था या उन्हें बन्द होना पड़ता था। अंग्रेजों में सरकारी विज्ञापन का लोभ–लालच और धमकी दोनों ही रूपों में इस्तेमाल किया। एक बार 'अमृत बाजार पत्रिका' नाम के अंग्रेजी अखबार को विज्ञापन देने की सूची से निकाल दिया गया था तो (1925 में) पत्र के प्रबंधक ने अंग्रेजों की मैत्रीभाव बनाये रखने का आंश्वासन देकर विज्ञापन फिर से पा लिया। अंग्रेजी अखबार 'हिन्दू' के प्रबंधन ने राष्ट्रवादियों से संबन्धित सामग्री छापने से इनकार किया था और गाँधी जी को यह स्पष्टीकरण दिया था कि उन्होंने प्रेस में बड़ी पूँजी लगायी है और इस हालत में नहीं हैं कि जब्ती और बर्बादी का जोखम मोल लें। 1942 में अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन ने, जिसमें अंग्रेजी अखबारों का ही वर्चस्व था, अंग्रेजी हुकूमत को आश्वासन दिया था कि

अखबार खबरों के बारे में आत्मसंयम बरतेंगे।

हिन्दी पत्रकारिता राष्ट्रीय आन्दोलन के दर्म्यान मिशन थी और विज्ञापनों को राष्ट्र विरोधी मानती थी, जबकि अब वह व्यवसाय है और विज्ञापनों के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार है। फिर भी हिन्दी और अंग्रेजी पत्रकारिता के बीच दूरी भाषा को लेकर देखी जाती है। आज जबकि अंग्रेजी पत्रकारिता हिन्दी की तुलना में पिछड़ चुकी है, फिर भी स्वयं को अकारण ही ऊँचा समझती है। दो उदाहरण लीजिए। आज से लगभग तीस साल पहले, 1981–82 में, अंग्रेजी मीडिया ने हिन्दी भाषा के खिलाफ दो विवादास्पद लेख छापे थे। एक लेख था सुनन्दो सान्याल का– "Deos Language Unite People?" आप समझ ही गये होंगे कि लेखक का उत्तर था– No. सुन्नदो सान्याल का मानना था हमें अंग्रेजी भाषा से कई लाभ हैं– इसके प्रयोग से हमें सामाजिक नियन्त्रण के ढेरों अवसर प्राप्त होते हैं, जबकि हिन्दी के प्रयोग से ऐसा नहीं होता। सुनन्दों का हिन्दी के खिलाफ दूसरा तर्क यह था कि अहिन्दी भाषी के लिए जैसी परायी भाषा अंग्रेजी है वैसी ही हिन्दी, तो फिर वह अंग्रेजी ही क्यों न सीखें?

> शब्द और अर्थ का संबंध मीडिया ने भी इस कदर गड़बड़ा दिया है कि लोग संवेदनहीन होने लगे हैं। कुछ चैनल तो सनसनी पैदा करने के लिए स्टूडियो में मरते हुए व्यक्ति को भी दिखाने लगे हैं। सिर्फ मुनाफे के लिए की जाने वाली हरकत से जब भाषा को जोड़ दिया जाता है तो छल–झूठ–लूट–खसोट, मक्कारी–धोखेबाजी के अर्थों और बिम्बों से उसे सजाया जाता है।

दूसरा लेख था कुलदीप नैयर का जिसके शीर्षक में सरकार को स्पष्ट सलाह दी गयी थी कि "Government Should not glorify a Language" क्योंकि हिन्दी भाषा को सरकार जो जरूरत से ज्यादा महत्त्व देती है उससे देश में भाषायी, द्वेष को बढ़ावा मिलता है। लोग स्वेच्छा से हिन्दी को स्वीकार करें इसके लिए इन्तजार करना चाहिए और विश्व हिन्दी सम्मेलनों के लिए अनुदान वगैरह बन्द कर देना चाहिए।

सुनन्दों जिस सामाजिक नियंत्रण करने की बात भाषा के माध्यम से उठाते हैं वह किस वर्ग के पक्ष में हैं?हम जानते हैं कि सामाजिक नियंत्रण पूँजी और अधिकार से होता है, भाषा उसका दिखावटी रूप है। सीमित संख्या वाले बुद्धिजीवी और संभ्रान्त लोग ही प्रभुता–संपन्न हैं जिन्होंने अपनी भाषा अंग्रेजी बना रखी हैं। सुनन्दों और नैयर यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रभाषा का मुख्य काम है राष्ट्रव्यापी सामान्य संप्रेषण, जो अंग्रेजी नहीं कर पाती– पिछले ढ़ाई सौ वर्षों में वह क्या कर पायी?हिन्दी तो देश की आधी से अधिक जनता की दैनिक जरूरतों और सामान्य व्यवहार की भाषा बनी हुई है। भाषा का महत्त्व संचार और संप्रेषण का कारगर माध्यम बनने में हैं– इसी को भाषा–नियोजन का लक्ष्य बनाना चाहिए। अंग्रेजी के समर्थक सामाजिक नियंत्रण चाहे भले ही न बना पाये हों, उनकी चीख–पुकार से सरकार ने संविधान में राजभाषा संबंधी संशोधित नियम पारित कर ही दिया और हिन्दी–अंग्रेजी की द्विभाषिक स्थिति को स्वीकार कर ही लिया है।

हिन्दी भाषा को भाषा, वैज्ञानिक, साहित्यकार और राजनीतिक लोग अलग–अलग ढंग से देखते हैं। भाषा वैज्ञानिक के लिए किसी भी विश्वभाषा के समान हिन्दी के अनेक रूप और शैलियाँ मिलती हैं– कहीं यह परिनिष्ठित संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है, तो कभी अरबी–फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी, जिसे उर्दू भी कहा गया और कभी बोलचाल की आमफहम हिन्दी।

व्यापक सन्दर्भ में देखें तो हिन्दी अंग्रेजी की तरह एक अक्षेत्रीय भाष बन चुकी है, दूसरी ओर यह भारत की प्रमुख राजभाषा है, फिर अपनी अनेकानेक बोलियों जैसे अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बुन्देली, मैथिली, मगही, आदि के बीच संपर्क–सूत्र की सहज–स्वाभाविक सहयोजित भाषा है। बोलियाँ अगर जाति (नेशनलिटी) हैं तो हिन्दी महाजाति (ग्रेटर नेशनलिटी) है। चाहे हम मानें न मानें, सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा (नेशनल लैंग्वेज) है।

पिछले सौ वर्षों में हिन्दी का निरन्तर आधुनिकीकरण होता रहा है। इसमें संस्कृति की सौन्दर्यात्मक चेतना और प्रगतिमूलक ज्ञान–विज्ञान दोनों को अभिव्यक्त करने की क्षमता के दर्शन होते हैं। किस कदर परम्परा प्रगति में ढलती है, इसे देखना हो तो सिर्फ दो शब्द ही उदाहरण के लिए काफी होंगे। एक शब्द है 'आकाशवाणी' और दूसरा शब्द है 'दूरदर्शन' और ये दोनों ही सांस्कृतिक शब्द आज मीडिया के अंग हो गये हैं। हिन्दी में गजब की ग्राहिका शक्ति है। उसने जनता के बीच रहकर स्वयं को इतना समृद्ध कर लिया है कि किसी भी क्षेत्र में संप्रेषण का समुचित माध्यम बन सकती है। पुलिस, रेल, बस, मेट्रो, मोटर, टिकट, फोन–जैसे हजारों शब्द उसने पचा लिए। उच्चाघर (मैटरनिटी होम), नज़रबन्द (डिटेंशन), ईधन (Fuel), शेयरघाटी (शेयर होल्डर), जलप्रदाय (वार सप्लाइ), बोनस भुगतान (Bonus payment), दूरमुद्रक (Telerinter), अकादमी, तकनीक, त्रासदी, कामदी– जैसे शब्द उसने बनाये और बनाती जा रही है। द्विवेदी युग में कार्तिक प्रसाद खत्री ने कहा था– "हजारों लफ्ज आयेंगे नये, आ जायें– क्या गम है। पचा लेगी उन्हें हिन्दी कि है जिन्दा जुर्बी हिन्दी।" मगर खेद की बात रही है कि ज्ञान–विज्ञान की,

उच्चशिक्षा की, माध्यम भाषा हिन्दी को बनने नहीं दिया, यह अधिकार एकमात्र अंग्रेजी को देने से हिन्दी–सहित भारतीय भाषाओं का बड़ा अहित हो रहा है। भारतीय भाषाएँ लोक व्यवहार की भाषाएँ हैं। मगर उच्चशिक्षा और प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा अंग्रेजी को बना दिया गया है। इस तरह जनता की भाषा और प्रशासन की भाषा में बड़ा विभाजन हो गया है जो प्रजातंत्र और लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्तों के खिलाफ है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लोग मान बैठे हैं कि जब अंग्रेजी में काम चल ही रहा है तो देसी भाषाओं को लेकर सिर खपाने की क्या जरूरत है।

हिन्दी पत्रकारिता में बंगदूत, बनारस अखबार, बिहारबंधु, भारतमित्र, उचितवक्ता, हितवार्ता, अभ्युदय, आज, मारवाड़ी बंधु, प्रताप, कर्मवीर, सरस्वती, माधुरी चाँद, मतवाला– जैसे अखबारों और पत्रिकाओं ने राजनीति और साहित्य के साथ–साथ भाषा के मोर्चे को भी संभाला था। आजादी के बाद और अस्सी के दशक तक यह क्रम चलता रहा। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान और दिनमान जैसे साप्ताहिक आज भी प्रतिमान बने हुए हैं– विशेषकर 'दिनमान' ने अज्ञेय के सम्पादकत्व में भाषा के स्तर पर भी हिन्दी को विशिष्ट रूप और पहचान दी थी। आज हिन्दी में ऐसे साप्ताहिक नहीं हैं, जिसका एक कारण टी.वी. चैनलों और ईंटरनेट का महाजाल भी है। फिर भी दैनिक समाचार पत्रों के व्यवसाय के लिहाज से यह स्वर्णयुग ही है। अंग्रेजी–सहित सभी भारतीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी अखबारों की प्रसार संख्या बहुत अधिक है। यह काबिले गौर है कि समाचार–प्रयुक्ति (News Registers) के द्वारा हिन्दी निरन्तर आधुनिकीकृत होती रही है। समाचारों की परिधि में प्रादेशिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि सभी प्रकार की गतिविधियाँ आती हैं। घटना, तथ्य, सम्पादकीय टिप्पणीयाँ, फीचर, व्यंग्य, विज्ञान, अर्थजगत, खेलकूद, मनोरंजन सबका समावेश मीडिया में होता है। इसमें तथ्यपरकता, तात्कालिकता और संक्षिप्ति का विशेष महत्त्व होता है। आजादी के बाद हजारों शब्द हिन्दी ने प्रचलित किये हैं– पुस्तक विमोचन और लोकार्पण, साक्षरता, संकाय, नसबंदी, चलचित्र, राजतपट और उसके सितारे, समाकक्ष, पुण्यतिथि, शपथग्रहण, गुट और धर्म निरपेक्षता, वायु–जल और ध्वनि प्रदूषण, भूमिगत (अंडरग्राउंड), लाल फीताशाही और भाई–भतीजावाद, बजट सत्र, श्वेत पत्र जैसे– शब्द हमारे जीवन में आ चुके हैं। सब जानते हैं हमारे देश में अंग्रेजी का दायरा सीमित है– केवल बड़े शहरों में थोड़े से अत्युच्च वर्ग के लोगों को छोड़कर कहीं भी सामाजिक व्यवहार केवल अंग्रेजी के बूते नहीं होता। किसी भी दूसरी भाषा की तुलना में हमारे देश के भीतर हिन्दी में सामाजिक व्यवहार अधिक व्यापक है।

आज हिन्दी मीडिया का दायरा बढ़ा है क्योंकि यह प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक में– और फिर फिल्म, टेलिविजन, कम्प्यूटर मोबाइल वगैरह के रूप में बढ़ता ही जा रहा है। इसके साथ ही इसका काम भी बढ़ा है। हिन्दी मीडिया का आम जीवन के सभी क्षेत्रों की घटनाओं, परिघटनाओं, विचारों, आलोचनाओं और विश्लेषणों को प्रस्तुत करना होता है। अगर हम पिछले कुछ वर्षों की राष्ट्रीय पैमाने पर हुई हलचलों पर विहंगम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि मीडिया ने रामजन्म भूमि–बाबरी मस्जिद विवाद, गोधरा कांड, मंडल आयोग, आरक्षण, राजस्थान गुर्जर आन्दोलन, महिला आरक्षण और सशक्तिकरण के साथ–साथ अन्य क्षेत्रों की हलचलों, मसलन सिनेमा, टी.वी. फैशन, पर्यटन् खानपान् प्रेम, विवाह, सेक्स, महानगरीय जीवन, प्रौद्योगिकी, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति नाटक–रंगमंच, संगीत, चित्र नृत्य आदि को समेटा है। फलस्वरुप मीडिया में हिन्दी एक उथल–पुथल की भाषा भी बनती गयी है। इस सिलसिले में सही–गलत स्टिंग आंपरेशन से लेकर Paid News तक के कारनामे होते रहे हैं। उन्नसीवीं सदी में ही एक प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार ने व्यवसाय बन चुकी पत्रकारिता के बारे में कहा था कि दरअसल वह 'मानसिक वेश्यालय' होती है जिसमें पत्र मालिक ठेकेदार होते हैं और पत्रकार दलाल। आज मीडिया का लगभग यही हाल हो रहा है, इसे निकट से जानने वाले मानते हैं कि यह नरक बन गया है– फैशन औरा ग्लैमर से चमचमाता एक नरक।

भाषा विभिन्न क्षेत्रों की अपनी होती है जैसे समाज की भाषा, साहित्य की भाष, बाज़ार और विज्ञापन की भाषा, प्रौद्योगिकी और विज्ञान की भाषा, उप–संस्कृतियों (Sub-Cultures) की भाषा आदि। मीडिया की भाषा को इन सबका समन्वित रुप बनना पड़ता है। लेकिन हिन्दी मीडिया की भाषा विशेषकर बाजार और विज्ञापन की भाषा पर निर्भर हो गयी है। इसका अपना ही मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र है। वस्तुतः भाषा आती है जनता के पास से– उसके यहाँ बनती है और जब विद्वान और बुद्धिजीवी भाषा बनाते हैं तब भी उसकी मंजूरी जरूरी होती है।

आजादी के बाद से ही धीरे–धीरे शब्द और कर्म का फर्क दिनों दिन बढ़ता रहा है और आज तो शब्द और कर्म प्रायः विपरीत ध्रुवीय हो गये है। हालात यह है कि जो चरित्रहीन है वही चरित्र प्रमाण–पत्र बाँटने वाला हो गया है। अब इस पर हैरानी भी नहीं होती। बड़े पैमाने पर शब्द अपने मूल अर्थ खोते जा रहे हैं और खोखले बन रहे हैं। जीवन में सज्जनता, गम्भीरता और गहराई को लोग गैरजरूरी मानने लगे हैं, सस्ती मस्ती ओर मजे को जीवन का लक्ष्य बताया जा रहा है। पैसे ओर पावर की माया में लोग ऊभ–चूभ कर रहे हैं।

हालात ऐसे हैं कि एक सर्वेक्षण के अनुसार हमारा युवा वर्ग औसतन रोज छः घंटे टी.वी. देखता है जिसमें पौने तीन घण्टे के करीब यानी 45 प्रतिशत विज्ञापन होते हें। आज बुद्धू वक्सा (Idiot box) हरेक मध्यमवर्गीय घर में घुस चुका है और लोगों की किसी न किसी कदर बुद्धू बना रहा हैं वह सूचना देता है, सलाह देता है ओर हुक्म भी देता है। लोगों को लालच भय दिखाता है। दंतमंजन, कपड़े जूते, कैमरे और जाने क्या–क्या अपनाने को कहलवा रहा है। इस उपसंस्कृति में खेल, मनोरंजन, शिक्षा सूचना, खबरें सभी मुनाफे से प्रेरित उत्पादन बन जाते हैं। इस तरह श्रोता–पाठक और दर्शक ग्राहक, माने खरीददार बन जाते हैं। यहाँ तक कि उत्पाद के

बहाने विचारधारा और विचारधारा को भी उत्पाद बनाकर पेश किया जाता है।

आज मीडिया का उद्देश्य लाभ कमाना है। इसमें खबरों से ज्यादा विज्ञापन उत्पाद है। मीडिया उच्चवर्ग के पक्ष में सहमति निर्मित करने का सबसे कारगर औजार बन गया है। नॉम चॉमस्की के अनुसार कहें तो–सहमति निर्माण करने (Constructing consent) और जनमन का नियंत्रण (Controlling poblicmind) करने वाला औजार। अब चैनल नये कार्यक्रम केवल इस दृष्टि से बनाते हें कि नये विज्ञापन लाये जा सके। तुर्रा यह कि छद्म किस्म की आजादी का बखान करते हैं जिसका उद्देश्य दर्शक को सतही ग्लैमर वाली चीजों का गुलाम बना देना होता है। मीडिया को पता है कि विकास से संबंधित विषय विकाऊ नहीं होते अतः वह कुपोषण, भूख, झुग्गी झोपड़ी, गरीबी, बेकारी और ग्रामीण समस्याओं को क्यों दिखाये। सो वह जान बूझकर भूत–प्रेत, अपराध, तंत्र–मंत्र, सेक्स, रहस्य आदि को मसालेदार बनाकर पेश करता है। (याद कीजिए मटुकनाथ–जूली प्रसंग, मीका–सखी चुम्बन प्रसंग, राखी और राहुल महाजन की शादियों को लेकर बनाये गये रियलिटी शो, डी.आई.जी. पंडा–प्रसंग वगैरह)। वास्तविक समस्याओं को भी सुन्दर, अचंभेदार, चटपटा और सनसनखेज बनाने से टी.आर.पी. बढ़ता है पर संदेश गलत जाता है। मीडिया समीक्षकों का दायित्व है कि बाज़ारवादी निहित स्वार्थों की पोल खोलें–पर कहाँ खोलेंगे? मीडिया पर तो पूँजी काबिज है। इसी हालात को नॉम चॉमस्की ने CORPORATE PROPEGANDA कहा है। इस वास्तविकता को उघाड़नें के लिहाज से एक नया यथार्थवाद सामने लाया जा रहा है जिसे कुछ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्र के अध्यताओं ने GLOBAL REALISM (भूमंडलीय यथार्थवाद) का नाम दिया है और इसे जादुई यथार्थवााद से आगे की कड़ी बताया है।

शब्द और अर्थ का संबंध मीडिया ने भी इस कदर गड़बड़ कर दिया है कि लोग संवेदनहीन होने लगे हैं। कुछ चैनल तो सनसनी पैदा करने के लिए स्टूडियो में मरते हुए व्यक्ति को भी दिखाने लगे हैं। सिर्फ मुनाफे के लिए की जाने वाली हरकत से जब भाषा को जोड़ दिया जाता है तो छल–झूठ–लूट–खसोट, मक्कारी–धोखेबाजी के अर्थों और विम्बों से उसे सजाया जाता है।

कुछ साल पहले जॉर्ज बुश साहब कह गये थे कि हिन्दी 21वीं सदी की भाषा होने जा रही है। वैश्विक ग्राम के इस उदार अर्थतंत्र वाले जमाने में हिन्दी में दुनिया की नामी–गिरामी पत्र–पत्रिकाएं ओर टी.वी. चैनल आने लगे हैं। इंटरनेट पर भी अंग्रेजी को हिन्दी, मन्दारिन और स्पेनी जैसी भाषाएँ चुनौती पेश कर रहीं है। लेकिन इस प्रक्रिया में क्या भाषाओं की प्रकृति नहीं बदल रही है? अब भाषा में छल की विशेषत भर गयी है। अगर इलेक्ट्रानिक मीडिया और विज्ञापनों की भाषा पर गौर किया जाय तो देखना आसान होगा कि विज्ञापन जो नकली जरूरतें पैदा करते हैं उसमें नकली भाषा सहायक होती है, जो आकर्षक होने के बावजूद सतही, सत्वहीन होती है।

आज जो मीडिया की 'मुख्य धारा' बह रही है उसमें ग्रामीण तथा निम्नवर्गीय जनसंख्या और उसकी भाषा के लिए नहीं के बराबर जगह हैं मीडिया की भाषा, भाषा के आंचलिक रूपों के उलट है और 'इलीट' की भाषा जबरन बनायी जा रही है। भूमण्डलीकरण का यह प्रताप है कि मीडिया न तो गाँव तक पहुँचता है न गाँव को शहर तक ही पहुँचाता है। लोकसाहित्य, लोकजीवन, लोकसंस्कृति, लोकभाषा से मीडिया की भाषा का बहुत दूर का रिश्ता है।

यह अकारण नहीं है कि मीडिया की हिन्दी में अंग्रेजी के शब्द घुसते चले जा रहें है। पिछले साल पत्रकार राजकिशोर जी से बातें हो रही थी वे इस स्थिति से इतने दुःखी थे कि व्यंग्यबाण छोड़ रहे थे। उन्होंने एक हिन्दी अखबार के सम्पादक के हवाले से बताया कि उनके प्रबंधन की ओर से आदेश आया था कि सम्पादकीय समेत सभी आलेखों में 25 प्रतिशत शब्द अंग्रेजी के रखे जायें। उन सम्पादक पत्रकार महोदय को तकलीफ तो हुई लेकिन विवश होकर हुक्म बजाना पड़ा, नहीं तो नौकरी जाती। दरअसल विवेकवान पत्रकारों के लिए इन दिनों मीडिया में काम करना बेहद तनावपूर्ण हैं नौकरी इतनी ग्लैमरस है कि छोड़ नहीं सकते और अन्तरात्मा इस काम की गवाही नहीं देती। राजकिशोर को सम्पादक ने एक फिल्मी गाने की याद दिलायी और कहा– "मेरे हाथों में नौ–नौ चूड़ियां हैं, उतनी ही मगर मजबूरियाँ हैं।"

अंग्रेजी शब्दों को हिन्दी में ठूंसने का चलन ऐसा है कि बड़े–बड़े नहीं बच पाते। मेरे मित्र कथाकार संजीव की एक कहानी फिल्माकर श्याम बेनेगल ने ली। एक और कहानी को मिलाकर उन्होंने अपनी नयी फिल्म बनायी है– 'वेलडन अब्बा'। इसके पहले वे 'वेलकम टू सज्जनपुर' बना चुके थे। ये वही श्याम बेनेगल है जिन्होंने अंकुर, मंथॅन, निशान्त, भूमिका, नाम की फिल्में बनायीं थीं। यानी नाम में भी बहुत कुछ रखा होता है, कभी–कभी आदमी की नीयत झलकती है। इस तरह की भाषा से मीडिया 'अपमार्कट' (खाते–पीते लोगों की जमात) पैदा करता है।

मीडिया कभी–कभी बड़े गुल खिलाती है। इंटरनेट के ब्लॉग जनमत तैयार करने के सशक्त माध्यम बनाने लगे हैं। कहते हैं कि ब्लागरों की नाराजगी जताने के चलते अमरीकी सरकार ने गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी को अमेरिकी वीजा नहीं दिया था। ब्लाग लिखने का खामियाजा हमारे पूर्व उपविदेशमंत्री शशि थरूर को रह–रह कर उठाना पड़ा है। इंटरनेट पर हिन्दी आ चुकी है, ब्लाग लिखे जा रहे हें और धीरे–धीरे यह भी पत्रकारिता का हिस्सा बन जायेगा। इस संचार–सुविधा ने ई–मेल, एस.एम.एस. के जरिए भाषा की संरचना को बदला है और उसे बहुत कुछ हलका और सस्ता भी बनाया है।

वैश्वीकरण के जरिये पश्चिमी सभ्यता एक विश्वभाषा (अंग्रेजी) और एक विश्वसंस्कृति (मैक्डॉनल्ड–के. एफ.सी. जिसके प्रतिक होंगे) लाने के जुगाड़ में लगती हैं। इस लक्ष्य से शायद वह विभिन्न भाषाओं में अंग्रेजी को घुसा रही है। परिणाम यह है कि हिन्दी के समाचार चैनल अपनी हेडलाइन अंग्रेजी में दे रहे हैं। वैसे भी मीडिया दिखाने से ज्यादा छिपाता है। यानी सारहीन समाचारों को महत्व देता है

गो-पालन का अर्थशास्त्र : हिन्द स्वराज के सन्दर्भ में

गुरु प्रसाद सिंह,*
भारतेन्दु कुमार चतुर्वेदी, अखिलेश कुमार शर्मा**

हिन्द स्वराज पुस्तक अपने सौवें साल में भी गाँव को आर्थिक विकास का केन्द्र बनाने के सन्दर्भ में उतनी ही प्रासंगिक है जितनी सौ साल पहले थी। महात्मा गांधी युगद्रष्टा थे, कहीं न कहीं वो आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न थे। गांधी ने गाँवों को अर्थ का केन्द्र बनाने के लिए गो–पालन को कुंजी माना था। भारतीय नस्ल की गाय की महत्ता को गाँधी ने अपने यूरोप प्रवास के दौरान तथा दक्षिण अफ्रीका में रहने के समय ही पहचान लिया था। अहिंसक खेती की कल्पना बगैर गो–पालन के सम्भव नहीं है। आज पूरी दुनिया कीटनाशकों और रसायनों के प्रयोग के बाद उसी पुराने परम्परागत कृषि ज्ञान की तरफ लौटने को आतुर है जिसे आम भारतीय हजारों सालों से पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाता रहा है। वैदिक काल से ही गाय भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं अर्थव्यवस्था का प्रतीक रही है। भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। भारत में सदैव से गो धन को ही धन माना जाता रहा है। गो–पालन ग्रामीण ऊर्जा का अक्षय स्रोत है। गाय से प्राप्त ऊर्जा सबसे सस्ती, सुलभ तथा प्रदूषण रहित है। जैसे बैलों की ऊर्जा का उपयोग कृषि कार्य में, परिवहन मालवाहन में। गोबर का उपयोग, ईंधन, बायोगैस कुटीर उद्योग तथा गोबर गैस के रूप में। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के पोषण के लिए दुग्ध के रूप में तथा फसलों एवं वनस्पतियों की अच्छी पैदावार के लिए खाद एवं कीटनाशी के रूप में।

गो–पालन आधारित ग्रामोद्योग संचालित करके गो पालकों, किसानों, बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराकर एवं महिलाओं के जीवन स्तर को ऊंचा करके ग्रामीण अर्थव्यवस्था को हम मजबूत कर सकते हैं।

हिंदस्वराज्य सिर्फ किताब नहीं है वह तो गांधी को समझने की चाभी है, आज सम्पूर्ण विश्व गांधीमय बनने को उत्सुक है। ऐसे में इस महान् ग्रन्थ की प्रासंगिकता सौ साल के बाद और भी प्रासंगिक हो जाती है।

प्रस्तुत लेख में मैंने सिर्फ गांधी के गोरक्षा के बिन्दु को परिभाषित करने का प्रयास किया है। हिन्द स्वराज के दसवें अध्याय "हिन्दुस्तान की हालत–3" हिन्दू मुसलमान के अन्तर्गत गांधी ने गोरक्षा के सवाल पर जो उत्तर दिया है वह अपने आप में एक ग्रन्थ के सृजन के बराबर है। गांधी ने हिन्द स्वराज में सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया जिसको मापने ढूंढने के लिए गांधी को समझना होगा। गोरक्षा के उत्तर में गांधी कहते हैं कि मैं खुद गाय को पूजता हूँ, यानि उसकी इज्जत करता हूँ, गाय हिन्दुस्तान की रक्षा करने वाली है, क्योंकि कृषि प्रधान देश होने के कारण उसकी संतान पर ही हिन्दुस्तान का आधार है। गाय सैकड़ों रूपों में हमारे लिए उपयोगी प्राणी है। उसकी उपयोगिता को हमारे मुसलमान भाई भी स्वीकार करेंगे।[1]

यहां जब हम गांधी की दृष्टि को शब्दकोष के माध्यम से देखने का प्रयास करते हैं तो भ्रम की स्थिति पैदा होती है। वे कहते हैं कि मैं गाय का सम्मान करता हूँ। गांधी वाङ्मय के 10:28 पर पूजा शब्द का प्रयोग किया है। दोनों शब्दों में अर्थांतर है, पूजा कर्मकांड का भी हिस्सा है और भावना का भी। अंग्रेजी में केवल रेसपेक्ट शब्द का प्रयोग हुआ है। (पटेल 'हिन्द स्वराज', पृ0 54) रेवरेंस श्रद्धा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। (कामिल बुल्के, अंग्रेजी शब्दकोष, दूसरा संस्करण) रेवरेंस से पहले प्रयुक्त अफेक्शनेट विशेषण पूजा के अनुशासन को कुछ कम करता है। अंग्रेजी का यह शब्द उनकी बकरी के प्रति गांधी के लगाव को भी उतना ही रेखांकित करेगा जितना गाय के प्रति। इसके बाद गांधी गाय की उपयोगिता की बात करते हैं जो कमोवेश उसके आर्थिक पक्ष को सामने लाती है। गांधी गाय को श्रद्धा से इसलिए देखते हैं क्योंकि वह देश की पालक है। (हिन्द स्वराज, गिरिराज किशोर)

भारत एक कृषि प्रधान देश है, और लगभग 70 प्रतिशत आबादी कृषि पर आधारित है। कुल राष्ट्रीय आय का 21 प्रतिशत कृषि क्षेत्र से आता है। गांधी ने सौ वर्ष पहले पश्चिम की चकाचौंध से उत्पन्न अंधेरे को पहचान लिया था और कृषि पर आसन्न संकट को देख लिया था, विगत पचास सालों से हम पारम्परिक कृषि जो बैल पर आधारित थी को भूल गये। ट्रैक्टर डीजल से चलता है, डीजल की कीमत लगातार बढ़ने से ट्रैक्टर आधारित खेती मंहगी हो गयी फलस्वरूप किसान कर्जदार हो गया है। खेती अलाभकारी हो गयी है, किसान की भूमि नीलाम हो रही है और किसान के समक्ष आत्महत्या एक मजबूरी बन गयी है। जबकि बैल ऊर्जा का अखण्ड स्रोत है, आज भी कृषि के अधिकांश कार्य बैलों से ही हो रहे हैं और कृषि का निष्प्रयोज्य खा कर भी कृषि और समाज को सर्वोत्तम देने का सामर्थ्य केवल गो वंश में है ऐसा महात्मा गांधी मानते थे।

गोवंश हमारे देश के लिए पर्यावरण, विज्ञान, आयुर्वेद, कृषि, अर्थशास्त्र और समाज का आधार बिन्दु है। गाय प्रकृति का मानवीय सृष्टि के लिए अनुपम उपहार है। वह दुग्ध का भण्डार है, जैविक खाद, कीटनियंत्रकों का प्राकृतिक कारखाना, बिना पूंजी के चलने वाला बिजली घर पंचगव्य और औषधियों का औषधालय है।

गो–पालन : पशुधन की रक्षा के लिए सहकारी गोपालन आवश्यक है। इससे पशुओं के रहने के लिए अलग व्यवस्था हो सकेगी। पशुओं के बड़े हुए बछड़े आदि की ठीक से देख–रेख होगी। बीमारी में पशुओं की ठीक दवा–दारू होगी। अच्छी नस्ल के सांड़ रखे जा सकेंगे। गोबर आदि की उचित व्यवस्था होगी। चारे की ठीक से समुचित व्यवस्था हो

भारत में मीडिया कानूनों का विकास

संतोष कुमार प्रधान

ब्रिटिश शासन काल में पल्लवित और पुष्पित हुई पत्रकारिता आज नित नये आयामों को छू रही है। समाचार पत्रों से प्रारम्भ हुई यह यात्रा इलेक्ट्रानिक मीडिया से एक कदम और आगे बढ़ते हुए कम्प्यूटर और इंटरनेट तक पहुंच चुकी है। जिसे हम वेब जर्नलिज्म, ई जर्नलिज्म, या साइबर जर्नलिज्म आदि नामों से जानते हैं। प्रिंट मीडिया का आकर्षण व लगाव आज भी पूर्ववत बना हुआ है। पत्रकारिता का नित बढता प्रभाव बेलगाम न हो जाए और इसकी स्वतंत्रता पर कोई आंच भी न आए इन बातों कों ध्यान में रखकर समय–समय पर कानूनों का निर्माण होता रहा है। अंग्रेजी शासन काल में पत्र प्रकाशन काफी कठिन था। सरकार की अनुमति के बगैर पत्र प्रकाशित करना मना था। सेंसर लगा दिए जाते थे। भारत आजाद हुआ और तभी प्रेस भी अपने अस्तित्व को बचा पाया है। भारत के संविधान में अलग से प्रेस की स्वतंत्रता के लिए कोई प्रावधान नहीं किए गए हैं। किन्तु भारतीय संविधान में वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में ही प्रेस की स्वतंत्रता अंतर्निहित है। समय के साथ–साथ मीडिया कानूनों का विकास होता रहा।

भारत के संविधान में अनुच्छेद 19 के अंतर्गत नागरिकों कों मूल अधिकार प्रदान किए गए हैं। वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनुच्छेद 19 (1) (क) द्वारा प्रदत्त है। किन्तु इसमें अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण साधन प्रेस की स्वतंत्रता के बारे में कोई बात नहीं कही गई है। इसके बाद भी हम कह सकते हैं कि प्रेस की आजादी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में ही अंतर्निहित है। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान लागू होने के बाद रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य और ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के मामले में यह निर्धारित कर दिया था कि अनुच्छेद 19 (1) (क) में लिखित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में ही प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि जहां अमेरिका के संविधान में वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख है, वहीं भारतीय संविधान में वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख हो। प्रेस की स्वतंत्रता एक साधारण नागरिक की स्वतंत्रता से बढ़कर नहीं है और यह उन निर्बंधनों के अधीन है जो अनुच्छेद 19(2) द्वारा नागरिकों के वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए हैं। प्रेस की तरफ से यह लगातार मांग होती रही है कि संविधान में संशोधन कर प्रेस की स्वतंत्रता का स्पष्ट उल्लेख किया जाए। जैसा कि इंग्लैण्ड के संविधान में है। किन्तु दोनों प्रेस आयोग ने उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के संदर्भ में इस बात की आवश्यकता नहीं समझी कि प्रेस की स्वतंत्रता का स्पष्ट उल्लेख करने के लिए संविधान में संशोधन किए जायें।

प्रेस और पुस्तक रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1867, न्यायालय अवमानना अधिनियम 1971,अनुच्छेद 19 (2) में युक्तियुक्त निर्बंधन के अंतर्गत न्यायिक अवमानना भी शामिल है। अनुच्छेद 129 में सर्वोच्च न्यायालय तथा अनुच्छेद 215 में उच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय घोषित कर उनकी अवमानना करने वालों को दंडित करने का अधिकार दिया गया है।, संसदीय विशेषाधिकार –अनुच्छेद 105 में संसद और अनुच्छेद 194 में विधान मंडलों के विशेषाधिकार, संविधान में केवल दो विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है– भाषण की स्वतंत्रता और कार्यवाहियों के प्रकाशन का अधिकार। संसदीय कार्यवाही (प्रकाशन संरक्षण) अधिनियम 1956 और 44 वें संविधान संशोधन द्वारा सदन की कार्यवाहियों के प्रकाशन के अधिकार को संवैधानिक संरक्षण प्रदान कर दिया गया है। संशोधन द्वारा अनुच्छेद 361(क) जोड़कर यह उपबंधित कर दिया गया है कि किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध जो किसी सदन की कार्यवाहियों की सारतः विरुद्ध सही रिपोर्ट प्रकाशित करता है किसी भी न्यायालय में कोई कार्यवाही दीवानी या फौजदारी नहीं होगी। शासकीय गुप्त वार्ता अधिनियम 1923, मानहानि (499), अनुच्छेद 19–2 के अंतर्गत मानहानि को उन विषयों में शामिल किया गया है जिन पर युक्तियुक्त निर्बंधन लगाये जा सकते हैं। लिखित और मौखिक दो प्रकार से मानहानि सम्भव है। कॉपीराइट ऐक्ट 1957 श्रम, बुद्धि और कौशल के द्वारा उत्पन्न किसी कृति को वैधानिक मान्यता प्रदान करता है। यह लेखक और प्रकाशक के हितों की सुरक्षा के लिए है। श्रमजीवी पत्रकार कानून 1955 पत्रकार के विशिष्ट कार्य, स्थान तथा उसकी गरिमा को मान्यता देते हुए संपादक एवं अन्य श्रमजीवी पत्रकारों के हित में कुछ विशेष प्रावधान किए गए हैं। भारतीय दण्ड संहिता 1860 में कुछ ऐसे प्रावधान हैं जिनका संबंध प्रेस से भी है। राजद्रोह (124–क), राष्ट्रीय अखंडता पर प्रतिकूल प्रभाव (153–ब), चुनाव के सिलसिले में मिथ्या कथन (171–ग), कुछ अपराधों से पीड़ित व्यक्ति का परिचय प्रकट करना (228–क), अश्लीलता (292), तरूणों में अश्लील वस्तुओं का विक्रय (293), लोक अहितकर वक्तव्य (505)।

दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की कुछ धाराएं जिनमें दस्तावेज पेश करने के लिए समन, (धारा 91), तलाशी वारंट (धारा 93), ऐसे प्रकाशनों को जब्त करने जो कि आई.पी.सी. की धाराएं भी लागू होती हैं, सदाचार के लिए बॉण्ड (108), आशंकित खतरे के बारे में आदेश (144), राज्य के विरूद्ध अपराधों के लिए मुकदमा चलाने हेतु सरकार की पूर्व अनुमति (196), अपराधों का संज्ञान लेने के संबंध में (327), अवमानना के कुछ मामलों की प्रकिया (345), आदि। प्रेस परिषद अधिनियम 1978 की धारा 13–1 के अनुसार प्रेस परिषद् का उद्देश्य भारत में प्रेस की स्वतंत्रता और समाचार पत्रों तथा समाचार एजेंसियों के स्तर बनाएं रखना

तथा उसमें सुधार करना होगा। पुस्तक और समाचार पत्र परिदान अधिनियम 1954, औषधि एवं चमत्कारिक उपचार अधिनियम 1954 सीमा शुल्क अधिनियम 1962, पुरस्कार प्रतियोगिता अधिनियम 1955, आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम 1961, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, बाल अधिनियम 1960, परमाणु शक्ति अधिनियम 1962, विधि विरूद्ध क्रियाकलाप निवारण अधिनियम 1967, नाट्य प्रदर्शन अधिनियम 1876, के अलावा एक और महत्वपूर्ण बात है जो कि पत्रकारों को ध्यान में रखना होता है, वह यह कि पत्रकारों की जानकारी के स्रोतों की गोपनीयता बनाए रखा जाये। इसके दो मुख्य आधार हैं – नैतिक और व्यावहारिक। दोनों ही प्रेस पर अपने उन स्रोतों को प्रकट न करने का दायित्व डालते हैं जो गुप्त रहना चाहते हैं। किन्तु गोपनीयता का यह अर्थ नहीं है कि समाचारों के स्रोत कभी बताये ही न जायें। वास्तव में स्रोतों का उल्लेख करना समाचार लिखने का एक महत्वपूर्ण नियम है, और न लिखना अपवाद। भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1882 के अंतर्गत अदालतें ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को जिसका मानसिक संतुलन ठीक है को सभी संगत प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य कर सकती हैं। एक बात और स्पष्ट है कि भारतीय साक्ष्य विधि में पत्रकारों को उनके सूत्र प्रकट करने से मना करने की उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। यदि न्यायालय का मत हो कि पत्रकारों द्वारा उनके किसी समाचार का सूत्र बताना किसी मुकदमें के निर्णय के लिए आवश्यक है तो पत्रकार न्यायालय की मानहानि के परिणामों का खतरा उठाकर ही इसे बताने से मना कर सकते हैं। जबकि पत्रकारों को इस प्रकार की उन्मुक्ति प्रेस परिषद अधिनियम 1978 की धारा 15(2) के अंतर्गत परिषद के समक्ष प्राप्त है। न्यायालयों के समक्ष नहीं। बाध्यता के खिलाफ तर्क यह भी दिया जाता है कि जब वकील–मुवक्किल तथा डाक्टर और मरीज के बीच हुई बातचीत को बताने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता तो पत्रकारों को भी मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। भारतीय डाकघर अधिनियम 1898 की धारा 20 के अंतर्गत अभद्र या अश्लील सामग्री डाक से भेजना वर्जित है। टेलीफोन टैपिंग नागरिक की एकांतता के अधिकार का तो गंभीर अतिक्रमण है हीं, साथ ही यह प्रेस की आजादी को भी प्रभावित करती है।

प्रथम प्रेस आयोग – अप्रैल 1952 को सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा जारी विज्ञप्ति में प्रेस आयोग के गठन की घोषणा की। न्यायमूर्ति जी राज्याध्यक्ष इसके अध्यक्ष थे। आयोग ने अपनी रिपोर्ट 14 अप्रैल 1954 को पेश की। इसकी प्रमुख सिफारिशों में– संपादकीय स्वतंत्रता की रक्षा, समाचारों की प्रस्तुतिकरण में वस्तुनिष्ठता, भारत में प्रेस परिषद की स्थापना की जाय। प्रेस रजिस्ट्रार नियुक्त किए, जाए पृष्ठानुसार मूल्य नियम लागू किया जाय, विज्ञापनों के लिए आचार संहिता बनाई जाय, सरकार नियंत्रित समाचार एजेंसियां न हों, केंद्र व राज्यों की राजधानियों में प्रेस सुविधा बढ़ाई जाय, समाचार पत्रों को अपने यहां कार्यरत पत्रकारों के देश भ्रमण की विशेष सुविधा प्रदान की जाय, पत्रकारों के कार्यों के नियमित वेतन, कार्य के घंटों का निर्धारण तथा उद्योगों पर लागू नियम लागू हों। इनमें से कुछ सिफारिशों को सरकार ने माना।

द्वितीय प्रेस आयोग– 29 मई 1978 को न्यायमूर्ति श्री पी के गोस्वामी की अध्यक्षता में द्वितीय प्रेस आयोग की स्थापना हुई। 21 अप्रैल 1980 को न्यायमूर्ति के.के. मैथ्यू की अध्यक्षता में आयोग का पुनर्गठन हुआ। आयोग ने अपनी जिन सिफारिशों को प्रस्तुत किया उनमें से – प्रेस की भूमिका, सांप्रदायिक सौहार्द्र कायम करने, विदेश एवं सुरक्षा मामलों पर प्रेस के उत्तरदायित्व एवं नियंत्रण की अपेक्षा, विकासात्मक रिपोर्टिंग पर विचार, पत्रकार द्वारा सूचना के स्त्रोतों का उल्लेख नहीं करना चाहिए, मानहानि कानून में संशोधन किया जाए। संसदीय विशेषाधिकार को संहिताबद्ध किया जाए। प्रेस परिषद को दण्डात्मक भाक्ति प्रदान करने की सिफारिश आदि।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 के अतर्गत कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर शेष विभागों से सूचनाएं प्राप्त की जा सकती है। यह न केवल आम आदमी के लिए बल्कि पत्रकारों तथा प्रेस के लिए भी उपयोगी है। शासन और प्रशासन में व्याप्त अनियमितताओं तथा भ्रष्टाचार के विरूद्ध सूचना का अधिकार एक कारगर हथियार साबित हो रहा है।

कम्पनी सरकार के द्वारा 1785 में जनरल ऑर्डर निकाल कर प्रकाशनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 1799 में वेलेजली ने प्रकाशन पूर्व सेंसरशिप लगा दिया। 1823 में जॉन एडम ने अखबारों पर लाइसेंस प्रणाली लागू कर दी। 1878 में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट लिटन ने देशी भाषा के पत्रों को दबाने के लिए बनाया। इस प्रकार के अनेकों प्रतिबंधों को लगाने वाली सरकार में ही समाचार पत्रों के कई हितचिंतक भी थे जिन्होंने समय–समय पर प्रेस को कुछ राहत दी थी। किन्तु वह पर्याप्त नहीं थे। आजादी की लड़ाई के साथ ही प्रेस की आजादी और उसके हित के कानूनों में सुधार तथा नए कानूनों का निर्माण भी स्वतंत्रता पूर्व और आजादी मिलने के बाद तक जारी रहे। भारतीय स्वतंत्रता के 65 वर्षों के बाद आज भी प्रेस कानूनों का निर्माण और विकास जारी है। केंद्र सरकार और राज्य सरकारें भी अब मीडिया को बहुत सी सुविधायें देने लगी हैं। मीडिया प्रतिष्ठानों द्वारा पत्रकारों के शोषण, काम के घंटों का व्यावहारिक निर्धारण, वेतन विसंगतियां और अन्य सुविधायें जैसी समस्याओं पर विधि सम्मत न्याय की अपेक्षायें और आकांक्षायें प्रबल होती रही हैं। मीडिया कानूनों का विकास भारत के न्यायप्रिय दर्शन और धर्म के अनुरूप आवश्यक है।

सन्दर्भ–

1. प्रेस विधि– डा0 नंद किशोर त्रिखा
2. प्रेस कानून और पत्रकारिता– डा0 संजीव भानावत
3. भारत का संविधान– डा0 डी0डी0 बसु
4. भारतीय दण्ड संहिता– बसंती लाल बावेल
5. दण्ड प्रकिया संहिता– बसंती लाल बावेल

●●●●

शोध छात्र, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोध-2

सामाजिक परिवर्तनकर्ता के रूप में मीडिया

कुमुद सिंह*

मीडिया समाज का दर्पण होता है। मीडिया के जरिए समाज में अनेक परिवर्तन आए हैं। सामाजिक बदलाव लाने में प्रारंभिक काल से ही मीडिया ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ के रूप में स्थापित मीडिया ने स्वयं को नए कलेवर में पेश किया। मीडिया ने नैतिक जिम्मेदारी का भी एहसास कराया। मीडिया समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाई है। अगर सामाजीकरण की बात की जाए तो जिस प्रक्रिया के द्वारा एक जैविकीय प्राणी सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है उसी प्रक्रिया का नाम सामाजीकरण है। समाजशास्त्री क्यूबर का कथन है मानव का व्यक्तित्व जन्म से पूर्ण नहीं होता। जन्म के समय उसके पास न तो भाषा होती है, न समझ, न विचार, न नियम और न संस्कृति। लेकिन सामाजिक सीख की एक लम्बी प्रक्रिया और अनुभवों के द्वारा उनमें व्यक्तित्व सम्बन्धी बहुत से सामाजिक गुणों का समावेश होता है। परिवर्तन और संचरण की इस प्रक्रिया का नाम सामाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया का केन्द्रीय भाग संचार है। संचार संदेश सम्प्रेषण की प्रक्रिया है। संचार को बढ़ाने में मास मीडिया बहुत प्रभावी है। संचार के द्वारा अन्तः संस्कृति क्रिया होती है। संचार ही विभिन्न संस्कृतियों में निकटता लाता है जिसके प्रभाव से दो संस्कृतियाँ पूरक बन जाती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में अभ्यान्तर संचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा इसमें अन्तर्वैयक्तिक संचार की भी भूमिका रहती है। समूह संचार भी समाजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है और जनसंचार के जरिए सामाजिक परिवर्तन हो जाता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस संसार में रहने के लिए उसे बात–व्यवहार बनाकर रहना पड़ता है। प्रारम्भ में भाषा और लिपि के अभाव में संकेतों के द्वारा अपनी बातों और भावनाओं का आदान–प्रदान किया जाता था। धीरे–धीरे भाषा और लिपि का आविष्कार होता चला गया और आज सूचना क्रान्ति का युग आ गया। अगर भाषा और लिपि का आविष्कार न हुआ होता और उसे प्रेषित करने के माध्यम का आविष्कार न हुआ होता तो आज हमारा समाज इतना विकसित नहीं हो पाया होता।

सिन्हा, सच्चिदानन्द (2004) ने अपनी "पुस्तक संस्कृति और समाजवाद" के अध्याय सम्प्रेषण की सम्भावना और संस्कृति में लिखा है कि बाइबिल में यह कथा है कि जब नोआ के वंशजों ने ऐसे मीनार का निर्माण शुरू किया जो स्वर्ग को छू सके तो भगवान ने उनकी भाषाओं को एक दूसरे से अपरिचित बना दिया। इस तरह कार्यों को संयोजित करने वाले भाषाई सम्प्रेषण के अभाव में उनका प्रयास बिखर गया और मीनार नहीं बन पाया।

इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यदि सम्प्रेषण बाधित हो जाए तो संस्कृति आगे नहीं बढ़ सकती। अगर सूचनाओं का सम्प्रेषण न हो तो संस्कृति की सम्भावना भी समाप्त हो जायगीं क्योंकि संस्कृति सूचनाओं का धारक है जो लोगों को सामाजिक व्यवहार की दिशा देती है और नियन्त्रित करती है। इसके लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है जो सूचनाओं को जन–जन तक प्रेषित करे और यह दायित्व मीडिया बखूबी निभाती है। मीडिया सामाजिक परिवर्तन लाने में भी अहम भूमिका निभाती आयी है।

जैसे–जैसे समाज का विकास होता गया वैसे–वैसे जनमाध्यमों का विकास भी। जन माध्यमों के जरिए समाज में व्याप्त बुराईयों, कुरीतियों पर कुठाराघात किया गया। समाज में जागरूकता फैलाने के लिए मीडिया का सहारा लिया गया। बीसवीं शताब्दी में मीडिया का प्रसार तेजी से बढ़ा। मीडिया ने सामाजिक अधिकार, राजनीति, नागरिकता के बारे में लोगों को बताया। इसके जरिए लोगों के अन्दर परिवर्तन आया।

घोष, सुब्रतो (2009–10) ने अपनी पुस्तक "ग्लोबल जर्नलिज्म" में इस बात का उल्लेख किया है कि मीडिया संस्कृति से सामाजिक परिवर्तन हुआ। संचार बढ़ा, लोगों का आपसी व्यवहार सुदृढ़ हुआ। मीडिया ने लोगों की सोच बदली। मीडिया ने लोगों को खुलकर सोचने का मंच प्रदान किया। किसी भी विषय पर अपनी राय देने की छूट दी। दूरदर्शन के जरिए ग्रामीण इलाकों के लोग भी शिक्षित हुए। 1975 में भारत सरकार ने SITE लाँच किया। इससे ग्रामीण इलाके में रहने वालों को कृषि के बारे में ज्यादा जानकारी मिली।

केवल, जे, कुमार (2005) ने अपनी पुस्तक "मास कम्युनिकेशन इन इण्डिया" में मीडिया के पहल के बारे में उल्लेख किया है जो सामाजिक परिवर्तन में सहायक होते हैं। उन्होंने बताया कि समाज में मीडिया का योगदान महत्वपूर्ण है। मीडिया से सामाजिक विकास होता है। लोगों की सोच में बदलाव आता है।

आज के युग में जन संचार और दूर संचार भी एक हो गया है। आज शहर में रहने वाला व्यक्ति आदिवासी इलाके में रहने वाले व्यक्ति की संस्कृति और परम्पराओं को भली–भाँति समझ सकता है और इसके जरिए आदिवासी इलाकों का भी विकास सम्भव हो पाया है। मीडिया के जरिए पर्यावरण, स्वास्थ्य, रोजगार आदि की जानकारियाँ आसानी से प्राप्त हो जाती हैं। ई–प्रशासन, ई–मेडिसिन, ई–वाणिज्य, ई शिक्षा का जमाना आ चुका है जहाँ कोई भी दुनियाभर की सूचनाएँ, सभ्यताएँ, परम्परायें और संस्कृति एक चुटकी में उपलब्ध हो जाती है।

डॉ0 डी0 आर0 मदन (2006) ने भी अपनी पुस्तक "परिवर्तन एवं विकास का समाजशास्त्र" में लिखा है कि आज के युग में जनसंचार और दूरसंचार की बातें अलग–अलग करना बेमानी है, क्योंकि केन्द्राभिमुखता (convergence) के दौर में सूचना प्रौद्योगिकी में हुए विकास के कारण एक दूसरे के बीच की दूरियाँ कम हुई हैं। जन संचार के साधन

जैसे–जैसे विकसित होते जा रहे हैं वैसे–वैसे समाज की संस्कृतियों में बदलाव आ रहा है।

सूचना क्रान्ति ने मानव के जीवन के सभी पक्षों – सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामुदायिक, धार्मिक आदि को प्रभावित किया है। मीडिया शिक्षा के क्षेत्र में वरदान साबित हुआ है तो रेलवे आरक्षण, विज्ञान, बैंकिंग प्रणाली, बीमा क्षेत्र, टेलीफोन, बिजली जैसे क्षेत्रों में एक क्रान्ति सी ला दी है। आज इन्टरनेट का जमाना है।

मीडिया की द्वारपाल या प्रहरी के रूप में भूमिका : मीडिया किसी भी समाज के लिए एक सजग प्रहरी या द्वारपाल होता है। किसी देश में युद्ध का खतरा हो, किसी महामारी का खतरा हो तो मीडिया इन बातों से पहले ही अवगत करा देता है ताकि समय रहते समस्या का समाधान निकाला जा सके। कभी–कभी कोई समाचार पूरे समाज, पूरे देश और सम्पूर्ण विश्व को भी सुरक्षा का अनुभव कराने वाला सिद्ध हो जाता है। मीडिया एक सजग प्रहरी की भूमिका का निर्वहन करता है।

मीडिया की शिक्षक के रूप में भूमिका : मीडिया आम जन को सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षित भी करता है। विभिन्न संचार माध्यम अपने–अपने तरीके से समाज और देश को शिक्षित करने का काम करते हैं। जैसे रेडियो, दूरदर्शन, पत्रिकाओं में विज्ञापन के माध्यम से लोगों में जागरूकता लाने की कोशिश होती है। गैस दुर्घटनाओं से बचने के लिए शिक्षा दी जाती है। नशा न करने, बूंद–बूंद पानी बचाने, ऊर्जा संरक्षण आदि की भी शिक्षा दी जाती है। पोलियो उन्मूलन, स्वाइन फ्लू, डेंगू आदि बीमारियों से बचाव के लिए प्रेरित किया जाता है। इसके अतिरिक्त संचार–माध्यम जनता को सामाजिक जीवन की शिक्षा भी प्रदान करता है।

निर्णय लेने की भूमिका : संचार के विभिन्न माध्यमों, कार्यक्रमों, साहित्य, विज्ञापनों, प्रचारित–प्रसारित विचारों से जनता में निर्णय लेने की क्षमता भी विकसित होती है। आम जनमानस की सोच में परिवर्तन आता है। अच्छे बुरे की समझ बनती है। मीडिया शान्तिकाल से लेकर बाढ़, अकाल, भूकम्प, सूखा जैसी प्राकृतिक आपदाओं में क्या करना चाहिए इसकी भी शिक्षा प्रदान करता है और साम्प्रदायिक दंगों के समय नागरिकों को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाता है ताकि देश में शान्ति, सौहार्द्र और भाईचारे का माहौल कायम रहे।

मीडिया की चुनौतियाँ :

(1) सूचना और संचार प्रौद्यौगिकी की लम्बी छलांग से जैसे–जैसे दूरी कम हो रही है अर्थात् कन्वर्जेंस हो रहा है वैसे–वैसे दुनिया भर के लोगों के बीच खाई बढ़ती जा रही है। एक ओर वे लोग हैं जिनके पास संचार के सभी साधन हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिनके पास संचार के न्यूनतम साधन भी नहीं हैं। इसी वस्तुस्थिति को डिजिटल डिवाइड कहा गया है।

(2) शैक्षिक क्षेत्र में सूचना क्रान्ति का व्यापक स्तर पर प्रयोग हो रहा है। लेकिन सही नीति और क्रियान्वयन के अभाव में छात्रों का नैतिक स्तर गिर रहा है जो हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिए घातक हो रहा है।

(3) इन्टरनेट के माध्यम से अवैध व्यापार, मादक पदार्थ या वेश्यावृत्ति को भी संचालित किया जा रहा है।

(4) प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सूचनायें लीक हो जाती हैं।

(5) टी0 वी0 चैनल सस्ती लोकप्रियता के लिए तथ्यों को तोड़–मरोड़ कर पेश करते हैं। जातीय उन्मादों को दिखाकर लोगों की भावनाओं को भड़का देते हैं।

सुधार के लिए सुझाव :

(1) बच्चों को मोबाइल और इन्टरनेट का गलत प्रयोग करने से रोकने के लिए कानून बनाना होगा।

(2) टी0 वी0 चैनलों पर निगरानी रखनी होगी, उनके लिए सेन्सर लगाना होगा।

(3) भड़काऊ भाषण, चित्र, पोस्टर आदि के प्रचार–प्रसार प्रतिबन्धित करने होंगे।

(4) मीडिया को उसकी नैतिक जिम्मेदारी का एहसास कराते हुए एक ऐसी नीति का निर्धारण करना होगा जो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता न छीने लेकिन गोपनीय चीजों को गोपनीय रहने दें।

(5) हमारे देश में 40 प्रतिशत जनता अभी भी इस क्रान्ति से पूर्णतया दूर है उस खाई को पाटने का प्रयास करना होगा। जगह–जगह जागरूकता फैलानी होगी तभी ये खाई पटेगी।

निष्कर्ष : मानव समाज में सम्प्रेषण की प्रक्रिया आरम्भिक काल से ही है। सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया वाणी, भाषा और लिपि के माध्यम से सम्पन्न हुई। मानव समूहों में सम्प्रेषण, एकता तथा संस्कृति की निरन्तरता के मुख्य साधन हैं। 20वीं शताब्दी के बीच में नई–नई तकनीकें जैसे रेडियो, टी0 वी0, टेलीप्रिन्टर, समाचार–पत्र, पत्रिकायें, सिनेमा, वायरलेस आदि का विकास हुआ। जिसके जरिये सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि क्षेत्रों में जबरदस्त बदलाव आया। सूचना क्रान्ति ने पूरे विश्व को एक ग्राम में बदल दिया और विकास दर विकास होता चला गया। लेकिन सूचना प्रौद्योगिकी ने समाज में कुछ असमानताओं को भी जन्म दिया। सरकार, प्रबुद्धजनों, प्रशासन की नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि प्रौद्योगिकी का प्रयोग सामाजिक समानता, समरसता और समृद्धि के लिए सुनिश्चित करें।

सन्दर्भ–

1. Ghosh. Supartro(2009-10); 'Global journalism Expamding media imperialism, mass culture & intrinsic politics'.
2. Zaidi. Zahid. Hussain. Ray, Vanita (2007); 'Media and Communications in the Third World.(Parekh, Regina. Mulay;Development of Electronic Media in the South Asian Countries'page no 161)
3. Kumar. Keval. J.(2005); 'Mass Communication In India'.
4. मदन, डा- जी- आर. (2006) परिवर्तन एवं विकास का समाजशात्र पृष्ठ 86
5. सिन्हा, सच्चिदानंद– (2004) संस्कृति और समाजवाद. नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन पृष्ठ 20

●●●●

*शोध छात्रा, अर्थशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

जनमाध्यमों द्वारा नई पहल की आवश्यकता

डॉ. प्रमथेश पाण्डेय

सदियों के औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के पश्चात् भारतीय समाज की स्वतंत्र चेतना ने निःसंदेह कई दिशाओं में आत्म निर्भरता हेतु सोचना प्रारम्भ किया। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण उसकी आर्थिक संरचना का पुनर्निर्माण रहा। इसकी शुरुआत राष्ट्रीय आय की गणना से पी0सी0 महालानोबिस की अध्यक्षता में गठित समिति ने की। गणना के साथ–साथ नये भारत के निर्माण की आधारशिला के ढांचे का निर्धारण होना भी सम्भव होने लगा, धुंधली तस्वीरों ने धीरे–धीरे आकार लेना शुरु किया। विकास के पथ भी तय करने की महती जिम्मेदारी अपने कंधे पर लिया। नये नेतृत्व ने अपने मॉडल को कहीं न कहीं औद्योगिक साचे के अनुरुप ढालना शुरु किया।

राष्ट्रीय आय के प्राथमिक क्षेत्र कृषि, वानिकी, पशुपालन और खनन की दिशा भी तय करने का प्रयास सरकारी तन्त्रों द्वारा हुआ, वहीं जन माध्यमों ने भी अपनी भूमिका को तय किया। इसने विनोबाभावे के भूदान यज्ञ जैसे आन्दोलनों को स्वर दिया। इसने जमींदारी उन्मूलन कानून बनाने के साथ, एक व्यापक आन्दोलन के रुप में प्रादुर्भूत हुए, जनगण को आवाज देने का कार्य किया। सर्वोदय पत्रकारिता के रुप में जनमाध्यमों ने; प्रभावित हुई कृषि और जुड़ी अन्य व्यवस्थाओं को बढ़ावा दिया। यही नहीं कृषि उत्पादन ने भी विकास की डगर पकड़ी। राष्ट्रीय आय में कृषि ही वह महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा जिसने भारत को पुनः अपने पैरों पर खड़ा होने का अवसर दिया क्योंकि राष्ट्रीय आय का लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा कृषि उत्पाद का रहा। आजादी के बाद के प्रारम्भिक दौर में कृषि पर निर्भरता जनसंख्या की दृष्टि से तीन चौथाई रही। जहाँ तक वर्तमान परिदृश्य का प्रश्न है आज कृषि से जुड़ी आय कुल राष्ट्रीय आय का मात्र 24 प्रतिशत है। कृषि सहित कुल प्राथमिक क्षेत्रों से हुई आय उत्पादन से जुड़े होने की वजह से स्पष्ट रहती है। वास्तव में राष्ट्रीय आय के आकलन के लिये देश में काफी विश्वसनीय तथा तथ्यपरक जानकारी उपलब्ध है। जो इस समय कुल आय का 35 प्रतिशत है। आजादी के पश्चात् चाहे वह हरित क्रांति हो जिसके लिये उन्नत कृषि तकनीक को जन–जन तक पहुंचाना हो अथवा श्वेत क्रांति जिसकी अगुवा बनी शंकर प्रजाति की गायें; जिनसे दुग्ध उत्पादन के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति होना सम्भव हो सका। इन सभी परिस्थितियों में जनमाध्यम के साहचर्य से सामान्यीकरण से विशिष्ट की दिशा में उत्तरोत्तर विकास के सोपानों का भारतीय जन आत्मनिर्भरता का साक्षी बना। प्रकृति पर पूर्ण निर्भरता के अंश में कमी करने का कार्य जहाँ अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी ने किया वहीं कृषि प्रौद्योगिकी को सरकारी माध्यम के साथ–साथ अन्य जन माध्यमों ने भी जन–जन तक पहुंचाने का कार्य किया।

निःसन्देह राष्ट्रीय आय के प्राथमिक स्रोतों के विकास की दृष्टि से सरकारी तन्त्र के माध्यमों के अलावा अन्य माध्यमों ने इस कार्य में सरकारी विज्ञापनों के माध्यम से सूचनाओं के प्रसार के अलावा किसी प्रकार का स्वतः स्फूर्त प्रयास नहीं किया। इसमें प्राथमिक क्षेत्र में हुई प्रगति गुणात्मक न होकर मात्र धनात्मक ही रह गयी। कृषि की विषयवस्तु से सम्बन्धित तथ्यपरक जानकारियों को, गैर–सरकारी जन माध्यमों में महत्त्व न के बराबर होने का असर; निःसन्देह भारतीय अर्थ व्यवस्था के विकास पर पड़ा है। इस सर्वमान्य तथ्य के बावजूद भारतीय कृषि, मानसून पर निर्भर रहने वाला क्षेत्र है; जो स्पष्टतः प्रति व्यक्ति आय को प्रभावित करने का महत्वपूर्ण कारक है। क्योंकि प्रति व्यक्ति आय में वृद्वि उन्ही वर्षों में हुई है, जिन वर्षों में कृषि उत्पादन में वृद्वि हुई। इसी प्रकार उन वर्षों में प्रति व्यक्ति आय स्थिर रही या उसमें गिरावट आयी, जिन वर्षो में खराब मौसम के कारण कृषि उत्पादन कम हुआ। भारत में प्रकाशित होने वाले दैनिक अखबारो में से 90 प्रतिशत देश के 36 बड़े शहरों से प्रकाशित होते है। जबकि पहुँच की दृष्टि से ग्रामीण क्षेत्रों में; मध्य प्रदेश 4 प्रतिशत, उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ 7 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश 9 प्रतिशत और बिहार 10 प्रतिशत के आकड़े इस बात के गवाह हैं कि, लगभग देश की आधी ग्रामीण आबादी में दैनिको की पहुच 10 प्रतिशत या उससे भी कम है। वहीं 800 दूरदर्शन प्रसारण केन्द्रों के होने के बावजूद स्थानीय कार्यक्रमों को मात्र 5 प्रतिशत स्थान मिलने के कारण कृषि के वास्तविक विकास में दूरदर्शन की भूमिका काफी कम है।

राष्ट्रीय आय का निर्धारण करने में औद्योगिक क्षेत्र की उपयोगिता विश्व व्यापार संगठन की स्थापना 1 जनवरी 1995 ई0 में होने के बाद, और तदनुरुप राष्ट्रों की व्यापार व्यवस्था के परिवर्तन ने, भारत में संगठित क्षेत्रों से होने वाली आय को बढ़ाया है। इससे औद्योगिक क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन बड़े उद्योगों के क्षेत्र में तो काफी हुआ है; परन्तु इसके वनस्पति लघु एवं कुटीर उद्योगों की प्रगति की रफ्तार अपेक्षाकृत काफी धीमी है। जहाँ तक संगठित क्षेत्र का सम्बन्ध है सकल घरेलू उत्पाद में इसका हिस्सा 1960–61 में 6.9 प्रतिशत था जो वर्तमान में लगभग 9.4 प्रतिशत हो गया है; वहीं लघु एवं कुटीर उद्योगों का सकल घरेलू उत्पाद में हिस्सा 1960–61 में 5.1 प्रतिशत था, जो मामूली परिवर्तनों के साथ वर्तमान में 5.8 प्रतिशत है।

राष्ट्रीय आय के प्राथमिक क्षेत्र कृषि इत्यादि की तरह ही लघु एवं कुटीर उद्योगों की तरफ से जनमाध्यमों की उदासीनता ने, राष्ट्रीय आय को यथार्थ के धरातल पर मजबूत, पुष्पित और पल्लवित करने में उस तरह का महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया है; जैसी की उससे अपेक्षा थी। वर्तमान में धीरे–धीरे छोटे उद्योग धन्धों का बन्द होना और इसके कारण पूंजी का केन्द्रीकरण हुआ है। इसके

बावजूद कुछ बड़े उद्योग धन्धों के विकास में जनमाध्यमों की भूमिका से इन्कार नही किया जा सकता है।

भारत में स्वयं जनमाध्यम एवं मनोरंजन उद्योग विश्व में अग्रणी स्वरुप में उभर रहा है। जिसने राष्ट्रीय आय में उल्लेखनीय योगदान किया है; जहाँ भारत सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अपनी भूमिका को वैश्विक स्तर पर तय कर रहा है, वहीं हम यह भी देखते है कि इस क्षेत्र का योगदान राष्ट्रीय आय में 1997–98 के वर्ष के दौरान 1.2 प्रतिशत था जबकि 2008–09 में बढ़कर 5.8 प्रतिशत हो गया है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में निर्यात की दर में प्रगति भी 16 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है और भारतीय निर्यात 2007–08 में 40.9 विलियन अमेरिकी डालर से 2008–09 में 47.3 विलियन अमेरिकी डालर तक पहुंच गया है; तथा एक उद्योग के स्तर पर भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी और मनोरंजन का क्षेत्र सम्पूर्ण एशिया में सर्वाधिक 18.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा है।

उद्योग के रुप में इसकी प्रगति ने भारत में एक नये कीर्तिमान की ओर कदम बढ़ाया है। जनमाध्यमों के विकास की दृष्टि से रेडियो की वृद्धिदर 32 प्रतिशत, संगीत की 1 प्रतिशत, टी0वी0 24 प्रतिशत, फिल्म उद्योग 18 प्रतिशत तथा मुद्रित–माध्यमों की वृद्धिदर 12 प्रतिशत ने स्वयं स्पष्ट किया है कि यह उद्योग एक विशाल आकार लेने की दिशा में कदम बढ़ा रहा है। वही वर्तमान में रेडियो से होने वाली आय 1,200 करोड रुपये, संगीत से 740 करोड़ रुपये, टी0वी0 से 42,700 करोड़ रुपये, फिल्म उद्योग से 15,300 करोड रुपये, तथा मुद्रित–माध्यमों से 19,500 करोड़ रुपये की अनुमानित आय और कुल मिलाकर वर्ष के अन्त में 19 प्रतिशत वार्षिक वृद्वि दर के हिसाब से 83,740 करोड़ रुपये तक पहुंचती है, जो कि राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

विश्व में भी सूचना प्रौद्योगिकी एवं मनोरंजन उद्योग का व्यापार पिछले 20 वर्षो में 20 गुना बढ़कर काफी बड़ा आकार ले चुका है और पांचवे नम्बर के उद्योग के रुप में स्थापित होकर तेल और खनन जैसे क्षेत्रों को पीछे छोड़ चुका है। वैश्विक व्यापार के महत्वपूर्ण घटक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ जनमाध्यमों का साहचर्य तथा अमेरिका, जापान और यूरोप की बड़ी कम्पनियों द्वारा निर्गत 47 अरब का विज्ञापन; विश्व में बढ़ते व्यापार और उस पर नियंत्रक शक्तियों का रेखांकन करता है। जिसने एक तरफ विश्व के स्तर पर अमीर और गरीब देशों के बीच की खाई को बढ़ाया है, वही दूसरी तरफ भारत जैसे विकासशील देश में भी इसी प्रक्रिया का अनुसरण किया है। जिससे देश में भी अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बढ़ी है। लेकिन उद्योग के रुप में जनमाध्यमों के हो रहे निरन्तर विकास ने जहाँ इसकी सार्थकता एक उद्योग के रुप मे सिद्व किया है, और विश्व में सबसे तेजी से विकास करने वाले जनमाध्यम एवं मनोरंजन उद्योग में अपनी जगह बना लिया है। इस उद्योग ने भारत की राष्ट्रीय आय में आशातीत वृद्धि किया है; परन्तु जनमाध्यमों की दूसरी भूमिका जहाँ वह भारतीय जन के विकास की वास्तविक संवाहक बन सके में अभी वक्त है।

निःसंदेह भारत में जनमाध्यमों के विस्तार की रफ्तार के आँकड़ों पर दृष्टि डालने से जो स्थिति सन्तोषजनक दिखती है, वही समाज की आवश्यकता के अनुरुप, प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि का माध्यम और उस माध्यम तक उसकी आसान पहुंच की परिकल्पना को साकार करने हेतु; जनमाध्यमों को नये द्वार खोलने ही होंगे। अगर देश की सम्पूर्ण जनसंख्या में प्रत्येक की अभिरुचि के अनुरुप होने की दिशा में जनमाध्यम करवट नहीं लेंगे तो उन क्षेत्रों जहाँ उनकी पहुंच नहीं के बराबर है, वहां वह पहुंच भी नहीं पायेंगे।

अशिक्षा, गरीबी, कुपोषण, भुखमरी, से जूझ रही विशाल आबादी के पास जाने के लिए जनमाध्यमों के द्वारा ऐसी जानकारी उन तक नहीं पहुंचायी जा रही, जिसकी परिणति के रुप में उन तक पहुंच हो सके। किन्तु जहां भारत का विशाल मध्यम वर्ग विश्व के सबसे बड़े बाजार के रुप में उभर रहा है, वहीं इस विशाल भू–भाग की बहुत बड़ी जनसंख्या तक माध्यमों की पहुंच का न होना चिन्तनीय है। जबकि भारत की राष्ट्रीय आय में अभिवृद्धि की दिशा तय करने में जनमाध्यमों की भूमिका प्रथमतः सूचना प्रौद्योगिकी एवं मनोरंजन उद्योग के रुप में तो सन्तोषजनक कही जा सकती है, परन्तु द्वितीय और व्यापक योगदान की दृष्टि से जब उसे देश के अन्य क्षेत्रों के विकास में उन्नायक की भूमिका अदा करनी है उसमें सन्देह पैदा होता है।

वास्तव में भारत के जनमाध्यमों को वस्तुतः आम जन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनना होगा। इससे राष्ट्रीय आय प्राप्ति के सूचना प्रौद्योगिकी एवं मनोरंजन उद्योग के अलावा अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों तक जनमाध्यमों की वास्तविक पहुंच हो सके। जहाँ महिलाओं, निर्धनों तथा निरक्षर वर्ग का एक बहुत बड़ा समुदाय आज भी जनमाध्यमों की पकड़ से दूर है; वहीं मनोरंजन के साधन के रुप में धीरे–धीरे जन माध्यम समाज के विभिन्न वर्गों तक अपनी पहुंच बना रहे है।

निश्चित रुप से राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय में अभिवृद्धि के सन्दर्भ में; संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्व महासचिव कोफी अन्नान की यह उक्ति सार्थक ही है कि; आगामी वर्षों में विश्व में ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था होगी; जिस राष्ट्र के निवासियों के पास ज्ञान होगा उसके पास पूंजी होगी तथा वही विकास करेगा, जबकि ज्ञान के स्वाभाविक सर्वमान्य साधन के रुप में जनमाध्यमों की उपयोगिता सर्वविदित है।

●●●●

*अतिथि अध्यापक मदनमोहन मालवीय
हिन्दी पत्रकारिता संस्थान,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

समकालीन विज्ञापन कला और वैश्वीकरण

सौरभ कुमार सिंह*

दो विश्व युद्धों के बाद विश्व में औद्योगीकरण के कारण देश के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध बने हैं और व्यापारी अपने उत्पादों को अधिक से अधिक बाजार देने के लिए विज्ञापनों की रणनीति का सहारा ले रहे हैं, जो आर्थिक प्रगति का आधार हैं। उत्पादों के विपुल उत्पादन की अधिक मात्रा में खपत करने के लिए विज्ञापन के पुराने माध्यमों के साथ नये आधुनिक माध्यम जुड़े हैं। ब्रिटिश उपनिवेशवाद और उसके बाद भारत में औद्योगीकरण तीव्र गति से हुआ है लेकिन विश्व बाजार में विकसित देशों के उत्पादों का प्रभाव इस कारण बढ़ा कि उन देशों में विज्ञापन के अत्याधुनिक माध्यमों का प्रचलन बढ़ा जबकि भारत में बड़े उद्योग पनपे और उत्पादन क्षमता के साथ विज्ञापन अभिकरणों का प्रादुर्भाव हुआ। बीसवीं सदी के आरम्भिक चरण से जहाँ छपाई की नई पद्धतियाँ जैसे स्क्रीन, ऑफसेट, फोटोग्रेव्योर आदि मुद्रण का प्रचलन रहा, वहीं बीसवीं सदी के छठवें दशक से रेडियो और उसके बाद दूरदर्शन का महत्व बढ़ा। सबसे महत्वपूर्ण सैटेलाइट के कारण विज्ञापन के दूरगामी परिणाम सामने आये। सूचना तकनीकी को बदलने में त्वरित माध्यमों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उपग्रहों के कैमरों में पूरे विश्व की सूचना का महत्व विश्व के जीवन पर पड़ रहा है।

दूरसंचार ने विज्ञापन और कला के क्षेत्र को नये आयाम दिये हैं जिसके कारण दुनिया सिमट कर छोटी हो गयी है और विश्व के उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ी है। जैसा कि माना जाता है वैश्वीकरण के इस युग में दुनिया को एक विश्व गाँव की संज्ञा दी गई है। यह कहा जा सकता है कि सभी क्षेत्र व्यापारिक हो गये हैं और उपभोक्ता संस्कृति का जन्म हुआ है। आज के इस दौर में विज्ञापन का सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव सभी आयु के वर्ग के लोगों पर पड़ रहा है जो वैश्वीकरण के दौर में वैश्विक दृष्टिकोण के तहत सारे विश्व पर हावी हो चुका है। जैसा कि माना जाता है कि इस युग में विज्ञापन के बिना उठना–बैठना, चलना–फिरना और कोई कार्य करना सम्भव नहीं माना जा सकता। भारतीय परिदृश्य में परखा जाय तो विज्ञापन एक वृहद रूप ग्रहण कर चुका है और मल्टीमीडिया के कारण अन्तर्राष्ट्रीय गुणवत्ता प्राप्त कर चुका है। विज्ञापनों के कारण भारत का सामाजिक और आर्थिक जीवन का विकास हुआ है। आज जीवन के लगभग हर पक्ष में 'ग्लोबल कन्टेन्ट' दिखाई देने लगा है। भूमण्डलीकरण के दबाव में समकालीन विज्ञापन निर्माताओं पर बाजार का दबाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदारीकरण और वैश्वीकरण के नये दर्शन का जयघोष आर्थिक दर्शन और आर्थिक प्रयोग का प्रेरणास्त्रोत बनता जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक समीकरण द्वारा समकालीन भारतीय विज्ञापन एक नये बाजार में प्रवेश कर चुका है।

विगत कुछ वर्षों में विज्ञापन के क्षेत्र में तकनीकी के उत्कर्ष अधिक दिखाई देने लगे हैं और दूरदर्शन में नयी सम्भावनाएँ एक तरह से लोगों को भौतिक सुख–साधनों की ओर आकर्षित कर रही हैं। शिक्षा, चिकित्सा, राजनीति और अन्य क्षेत्रों में विज्ञापन का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। सूचना आधुनिक समाज के सभी गतिविधियों की सबसे बड़ी आवश्यकता के रूप में राष्ट्र तथा व्यक्ति की शक्ति है। विज्ञापन के वैश्विक स्वरूप का अवलोकन करें तो पर्यावरण प्रदूषण, एड्स जैसे विश्वव्यापी विसंगतियों के परिणाम से अवगत करा कर जनचेतना को जागृत करने वाले विज्ञापनों को सभी राष्ट्र प्रोत्साहन दे रहे हैं।

यह माना जाता है कि किसी उद्योग के माध्यम से अपने विक्रय से लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से उत्पाद को ग्राहकों तक पहुँचाने के लिए उत्पादों को एक बाजार की आवश्यकता होती है और प्रचार के लिए विज्ञापन की आवश्यकता होती है। और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तक पहुँचने के लिए व्यवस्थित और द्रुतगामी विज्ञापनों का महत्व होता है। इस वैश्वीकरण के युग में जब राष्ट्रों की सभी सीमाएँ सैटेलाइट प्रसारण के कारण टूट चुकी हैं तो एक देश दूसरे देश से व्यापारिक आदान–प्रदान करने लगा है और इन देशों के उत्पाद, विचार या सूचना द्वारा लोगों को आकर्षित किया जा रहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज विज्ञापन के इस युग में दूरदर्शन, कम्प्यूटर, इन्टरनेट जैसे अन्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों का आज के इस दौर में महत्व बढ़ गया है। इन्टरनेट द्वारा हम किसी भी राष्ट्र के उत्पादों के बारे में सरलता से सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

भारत में बनने वाले उत्पाद आज उच्चकोटि के हैं, क्योंकि ग्राहकों की मानसिकता में बदलाव आया है और वे मात्र राष्ट्रीय स्तर के उत्पादों पर निर्भर नहीं हैं बल्कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उत्पादों के प्रति अधिक दिलचस्पी है। यहाँ तक कि वे ऐसे विज्ञापनों के प्रति भी आकर्षित होते हैं जो उनकी कलात्मक अभिरूचि को भी प्रभावित कर सकें। यहाँ तक कि उत्पादों के सुन्दर कलात्मक पैकेजिंग का भी ग्राहकों पर प्रभाव पड़ता है। विश्व के बाजार में प्रतिस्पर्धा इतनी अधिक है कि विज्ञापन भी प्रतिस्पर्धात्मक रूप में दिखाई देने लगा है। अतः विज्ञापन आज पूर्ण रूप से सभी कला तत्वों को ग्रहण करते हुए विश्व समुदाय के लिए उपयोगी बन गया है। इसका कारण आधुनिक युग की माँग के अनुसार उत्पादकों को परामर्श देने के लिए भी विज्ञापनों की अहम भूमिका होती है।

संदर्भ–

1. अशोक भौमिक, कला त्रैमासिक, कला बाजार
2. अशोक महाजन, विज्ञापन
3. टी0 एन0 छाबड़ा, आर्गेनाइजेशन ऑफ कॉमर्स

••••

*शोध–छात्र, व्यावहारिक कला
ललित कला विभाग, म0 गाँ0 काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

सकेगी। पशुओं से प्राप्त वस्तुओं का अच्छा दाम प्राप्त हो सकेगा। गोबर, कचरे, मलमूत्र आदि की उचित व्यवस्था होकर सुनहली खाद बन सकेगी।

गांधी के अनुसार : फिर हिन्दुस्तान में अनगिनत पशुधन है, जिसकी तरफ हमने ध्यान न देकर गुनाह किया है। गोरक्षा मुझे मनुष्य के सारे विकासक्रम में सबसे अलौकिक वस्तु मालूम हुई है। गाय का अर्थ मैं मनुष्य से नीचे की सारी गूंगी दुनिया करता हूँ। इसमें गाय के बहाने इस तत्त्व के द्वारा मनुष्य को सम्पूर्ण चेतन–सृष्टि के साथ आत्मीयता का अनुभव कराने का प्रयत्न है। हिन्दुस्तान में गाय ही मनुष्य का सबसे अच्छा साथी, सबसे बड़ा आधार था। यही हिन्दुस्तान की एक कामधेनु थी। वह सिर्फ दूध ही नहीं देती थी, बल्कि सारी खेती का आधार–स्तम्भ थी। लाखों–करोड़ों हिन्दुस्तानियों को पालने वाली माता है। गोरक्षा हिन्दू धर्म की दुनिया को दी हुई एक कीमती भेंट है।

पुनः गोमाता जन्म देने वाली माँ से कहीं बढ़कर है। माँ तो साल दो साल दूध पिलाकर हमसे फिर जीवन भर सेवा की आशा रखती है। पर गोमाता को तो सिवा दाने और घास के कोई सेवा की आवश्यकता ही नहीं। माँ की तो हमें उसकी बीमारी में सेवा करनी पड़ती है परन्तु गोमाता केवल जीवन–पर्यन्त ही हमारी अटूट सेवा नहीं करती, बल्कि उसके मरने के बाद भी हम उसके मांस, चर्म, हड्डी, सींग आदि से अनेक लाभ उठाते हैं। यह सब मैं जन्मदात्री माता का दरजा कम करने को नहीं कहता, बल्कि यह दिखाने के लिए कहता हूँ कि गोमाता हमारे लिये कितनी पूज्य है।

पुनः हमारे ढेरों की दुर्दशा के लिए अपनी गरीबी का राग भी हम नहीं अलाप सकते हैं। हमारे पिंजरापोल हमारी दयावृत्ति पर खड़ी हुई संस्थाएं हैं, तो भीख के उस वृत्ति का अत्यन्त भद्दा अमल करने वाली संस्थाएं ही है। वे आदर्श गौशालाओं या डेरियों और समृद्ध राष्ट्रीय संस्थाओं के रूप में चलने के बजाय केवल लूले लंगड़े ढोर रखने के धर्मादा खाते बन गये। गो रक्षा के धर्म का दावा करते हुए भी हमने गाय और उसकी सन्तान को गुलाम बनाया है और हम खुद भी गुलाम बन गये हैं।

पुनः सवाल यह किया जाता है कि जब गाय पालन–पोषण के खर्च से भी कम दूध देने लगती है या दूसरी तरह से नुकसान पहुंचाने वाला बोझ बन जाती है, तब बिना मारे उसे कैसे बचाया जा सकता है।

फिर हिन्दुस्तान के सारे पिंजरा वालों का पूरा–पूरा सुधार किया जाना चाहिए। आज तो हर जगह पिंजरापोल का इन्तजाम ऐसे लोग करते हैं, जिसके पास न कोई योजना होती है और न ये अपने काम की जानकारी ही रखते हैं। गोरक्षा का काम हिन्दुस्तान से विदेशी हुकूमत को हटाने के काम से भी ज्यादा कठिन है।

पुनः मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैंस के दूध–घी का कितना पक्षपात करते हैं। असल में हम निकट का स्वार्थ देखते हैं, दूर के लाभ का विचार नहीं करते। नहीं तो यह साफ है कि अन्त में गाय ही ज्यादा उपयोगी है, जिसमें भैंस के मक्खन से कहीं अधिक कैरोटिन यानि विटामिन 'ए' रहता है। उसमें एक खास तरह का स्वाद भी है। मुझसे मिलने वाले विदेशी यात्री सेवाग्राम में गाय का दूध पीकर खुश हो जाते हैं और यूरोप में तो भैंस के घी और मक्खन के बारे में कोई जानता ही नहीं। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहां भैंस का घी–दूध इतना पसन्द किया जाता है। इससे गाय की बरबादी हुई है। इसलिए मैं कहता हूँ कि हम सिर्फ गाय पर ही जोर न देंगे, तो गाय नहीं बच सकेगी।

पुनः मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि कानून बनाकर गोवध बन्द करने से गोरक्षा नहीं हो जाती। गोरक्षा के प्रश्न का जैसे–जैसे मैं अधिक अध्ययन करता हूँ, वैसे–वैसे मेरा वह मत दृढ होता जाता है कि गांव और उसकी जनता की रक्षा तभी हो सकती है जब कि मेरी उपर बतायी हुई दिशा में निरन्तर प्रयत्न किया जाय।

गांधी यह चाहते थे कि गोरक्षा देश की आर्थिक और सामाजिक संदर्भ में महत्वपूर्ण बने न कि धर्म के परिप्रेक्ष्य में। गांधी परम्परावादी हिन्दू से अलग हट कर सोचते हैं और चाहते हैं कि मैं अपने मुसलमान भाई को यह समझाऊं कि गाय देश की आर्थिक और सामाजिक हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है और देश हित में गोरक्षा में मेरी सहायता करें। अगर वह नहीं मानता है तो मुझे गाय को छोड़ देना चाहिए क्योंकि मामला मेरे सामर्थ्य से बाहर है। अगर मेरे मन में गाय के लिए अत्यधिक दया है तो उसके लिए अपने प्राण देने होंगे बनिस्पत इसके कि मैं अपने मुसलमान भाई के प्राण लूं। यही हमारे धर्म का नियम है, कुल मिलाकर मनुष्य होना गांधी के लिए अधिक महत्वपूर्ण था। इतनी विशाल सोच सिर्फ गांधी के लिए ही सम्भव थी। साधारण सोच का मनुष्य गांधी के इर्द गिर्द भी नहीं ठहरता है।

इस तरह 'हिन्द स्वराज' प्राचीन भारतीय परम्पराओं की बीज रूपी पुस्तक है। गांधी ने हिन्द स्वराज के माध्यम से एक युग परिवर्तनकारी दर्शन का प्रतिपादन किया है। यह दर्शन पूरे संसार को भौतिकतावादी दर्शन से मुक्त करने का दर्शन है जिसमें अध्यात्म और विज्ञान दोनों का समन्वय है। हिन्द स्वराज गांधी की कालजयी कृति है जिसमें सम्पूर्ण मानवता को सर्वनाशक आधुनिक सभ्यता से बाहर निकाल कर नये युग में ले जाने का सामर्थ्य है, जिसमें मानव जाति ऐसे युग में कदम रखेंगी जो सत्य और अहिंसा का नवयुग होगा।

गोवंश का आधुनिक अर्थशास्त्र : वैदिक काल से ही गाय भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं अर्थव्यवस्था का प्रतीक रही है। भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। भारत में सदैव से गो धन को ही धन माना जाता रहा है। अमृततुल्य गो दुग्ध, घृत के अतिरिक्त खेत जोतने एवं भार ढ़ोने के लिए बैल तथा भूमि की उर्वरता को बनाये रखने के लिए उत्तम खाद जो हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है, गाय से ही प्राप्त होती है। गाय एवं गो वंश के गोबर–गोमूत्र से बनने वाली खाद के प्रयोग से धरती अन्न और धन–धान्य से भर जाती है। यह देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि स्वर्ण की खान गाय और गोवंश की खाद को छोड़कर रासायनिक खादों व कीटनाशकों के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया। जिसके कारण हमारे खेत जहरीले हो रहे हैं। सब्जियों और अनाजों में हम जहर खिला और खा रहे हैं जिसके

चुनौती बन गयी। जिसके लिए वे कड़े संघर्ष के बाद भी असफल रहे।

अम्बेडकर का दलित आन्दोलन भी अलगाववादियों की आन्दोलन श्रृंखला की एक कड़ी था। इन्होंने भी मुस्लिम नेताओं की भाँति अस्पृश्यों के कल्याण को भारतवासियों के कल्याण से अलग रखा तथा आजादी की बात पर समानान्तर दावा पेश कर जंगे आजादी को निष्क्रिय करने का प्रयास किया। उन्होंने आजादी या अस्पृश्यों के लड़ाई के लिए एक दिन की भी जेल यात्रा नहीं किया है। चाहते तो आजादी के दीवानों की तरह वे भी दलितोद्धार के लिए संघर्ष करते हुए जेल जाते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे विभिन्न सिद्धान्तों के सहारे अंग्रेजों को सम्पृक्त तथा स्वाधीनता आन्दोलन का विरोध करते थे। अन्ततः 1942 में वे वायसराय के इज्क्यूटिव कौंसिल (Executive Councel) में लेबर सदस्य नियुक्त हो गये।

एक भारतीय दलित लेखक केवल भारती मानते है कि अम्बेडकर स्वाधीनता आन्दोलन से अलग थे, लेकिन उन्होंने किसी न किसी तर्क के सहारे मुसलमानों के अलगाववाद का समर्थन किया, जिसमें वे पाकिस्तान को माँग रहे थे।

अंग्रेज अम्बेडकर व मुसलमानों के राजनीति को इसलिए पसन्द करते थे। अंग्रेजी अफसर अपने पत्रों में हमेशा अम्बेडकर के इस कार्य की सराहना करते थे।

सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया ने वायसराय को 28 दिसम्बर 1932 को एक गोपनीय (प्राइवेट) पत्र भेजा जिसमें लिखा था कि–" अम्बेडकर गोलमेज सम्मेलन में बहुत अच्छी तरह से पेश आये और मैं चाहता हूँ कि उनकें हाथ को और अधिक मजबूत किया जाय।"[3]

इसी प्रकार अंग्रेजी अफसरों द्वारा क्रमशः 24 नवम्बर 1933, 19 नवम्बर 1940, 24 अप्रैल 1942, 16 जुलाई 1942 ब्रिटिश सरकार को भेज कर अम्बेडकर के कार्यो की सराहना की गई। 27 नवम्बर 1942 के पत्र में सेक्रेटरी आफ स्टेट ने वायसराय को लिखा है कि कार्यकारिणी के विस्तार का पहलू बड़ा सहायक हुआ। क्योंकि विभिन्न सदस्यों ने या तो सरकार का समर्थन किया या कॉग्रेंस का विरोध। इस कार्य में अम्बेडकर अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुये। अब आवश्यकता है उन्हें प्रोत्साहित करने की ताकि वे पद पर बने रहने का औचित्य प्रमाणित करते रहें।[4]

उपर्युक्त उद्धरण भारत सरकार के अभिलेखागार में उपलब्ध है। जिसका पूर्ण ब्योरा अरूण शौरी ने अपनी पुस्तक "वरशिपिंग फल्सगाड" में प्रस्तुत किया है।

गाँधी और कांग्रेस के विरोध में अम्बेडकर ने जिन्ना से भी हाथ मिलाया था। मुसलमानों द्वारा 6 दिसम्बर 1939 को घोषित किया गया कि 22 दिसम्बर 1939 को मुसलमान मुक्ति दिवस मनाया जायेगा। इसका अम्बेडकर ने पूरा समर्थन किया तथा बम्बई सभा में कांग्रेस और गाँधी की आलोचना की।

जब कैबिनेट डेलीगेशन बाहर आया तो 5 अप्रैल 1946 को अम्बेडकर ने उसके समक्ष बयान दिया जिसे तत्कालिक वायसराय वेबल ने अपने गोपनीय दस्तावेज में अंकित किया–

" He (Ambedkar) thought that if India become Independent it would be one of the greatest disasters that could happen"[5]

वे स्वाधीनता आन्दोलन के विरोध के साथ–2 समस्त भारत के 'एक राष्ट्र सिद्धान्त' का भी विरोध करते हुए कहते है कि– 'हिन्दू व मुसलमान एक साथ नही रह सकते। इसलिए उन्होंने पाकिस्तान की माँग का समर्थन करते हुए कहा है कि –

"On second issue I prefet the partitraning of Indias in to muslim India and non muslim India as the surest and safest method of providing for the defencle of both"[6]

अम्बेडकर द्वारा पाकिस्तान के माँग का समर्थन गाँधी के भारतीय लोकतन्त्र की अवधारणा पर कड़ा प्रहार था।

जबकि गाँधी ने स्वाधीनता आन्दोलन को विभिन्न आयामों में प्रतिष्ठित किया। गाँधी ने इस आन्दोलन को भारत के नैतिक, सास्कृतिक व आर्थिक आन्दोलन से जोड़कर विश्व के अन्य आन्दोलनों से ही भिन्न कर दिया। गाँधी का यह प्रयास था कि जो सनातन है वह केवल व्यक्तिगत जीवन या परिवार पर केन्द्रित था। वे कहते है कि–

"It is the law of love which silently but surely governs the family for the most par through out the civilized word. I feel that nations can not be one inreality no can their activities be conducive to the common good of the family in nation and international affairs in others words on the political platform. Nation can be called civilized only to the extent thats the obey this law."[7]

इसलिए गाँधी ने जबसे कांग्रेस की कमान सम्भाली उसी समय से आन्दोलन की दिशा और दशा तथा स्परूप बदल गये। जो संस्था ब्रिटेन और भारत के बीच मैत्री और सद्भावना के कार्य के लिए स्थापित थी और स्वशासन का धीरे–धीरे विस्तार करना चाहती थी। उसे गाँधी ने इस प्रकार बदला कि सड़क पर उतर कर वे सरकार से असहयोग, सत्याग्रह व धरना तथा प्रदर्शन करने लगे।

विलियम शिरेर ने अपनी पुस्तक "गाँधी एम माय" में गॉधी के नेतृत्व व पिछले कांग्रेस नेतृत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा कि "1885 से 1907 तक आन्दोलन उन लोगो के हाथों में था जिनकी माँगें बड़ी सीमित थी वे अंग्रेजी राज के समाप्ति की बात ही नही करते थे। वहीं 1907 से 1920 तक नेतृत्व करने वालो ने यंग तरकस की भाँति कार्य करते हुए स्वराज्य की बात संवैधानिक तरीकों से किया।[8]

गाँधी ने पहली बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जनाधार दिया तभी से कांग्रेस एक जनान्दोलन बन गयी। इसके बावजूद गाँधी दादाभाई नौरोजी व गोखले की चर्चा करते हुए हिन्दू स्वराज्य 1909 में लिखते है कि भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन उनका ऋणी है।

गाँधी ने अपने आन्दोलन में तीन चीजों को समाहित किया है– सत्य, अहिंसा व प्रेम। इसी को सार्वजनिक जीवन का आधार बनाने का प्रयास किया। गाँधी मानते थे कि सभी आन्दोलनों को पूर्ण अहिंसक कर पाना कठिन है लेकिन वे न्यूमेन के सिद्धान्त कि " फिर भी मेरे लिये एक कदम काफी है" का पालन ताउम्र करते रहे।

गाँधी ने पहला जनान्दोलन 1917 में बिहार के चम्पारण से शुरू किया जिसमें शिक्षा व सफाई के अभियान को प्रारम्भ किया। इस प्रकार सेवा, राजनीति व धर्म तीनो को जोड़ने का प्रयास किया। 1919 के जलियावाला बाग हत्या काण्ड से लेकर 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन तक सदैव संघर्षरत रहे तथा स्वाधीनता आन्दोलन को जनता से जोड़कर सर्वधर्म को साथ लेकर चलते रहे। जिसे भारतीय सन्दर्भ में से सेक्युलरीज्म कहा जाता है। जबकि अम्बेडकर हिन्दू, मुसलमानों के बीच धार्मिक सद्भाव से इनकार करते रहे।

इसलिए अम्बेडकर को जब प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया गया तो उन्हें उन सभी बातों को स्वीकार करना पड़ा, जिसको पद पाने से पहले वे नही मानते थे ।

मुसलमानों को शह देकर अंग्रेज भारत को विभाजित करने में सफल हो गये। लेकिन गॉधी ने एक राष्ट्र व एक सिद्धान्त तथा पंथ निरपेक्षता को कभी नही छोड़ा जिसकी कीमत उन्हें अपने प्राणों की आहूति से चुकानी पड़ी।

गाँधी ने धर्म को राजनीति से जोड़कर वह कार्य किया जो कि ईश्वर के निकट ले जाता है। जो कि सनातन धर्म का प्रतीक था। इससे निरक्षर ही नही सभी वर्गो में चेतना आ सकती है। वे कहते हैं कि इसके लिये पुस्तकों को पढ़ने की आवश्यकता नही है। इसका प्रयोग मैने दक्षिण अफ्रीका में किया और सफलता भी प्राप्त किया।[9]

इस प्रकार गाँधी व अम्बेडकर के कार्यो में उस स्तर का भेद है जिस स्तर पर गाँधी राजनीति को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। अम्बेडकर का स्तर राजनीतिक लक्ष्य को येन–केन प्रकारेण प्राप्त करना है। जबकि गाँधी का लक्ष्य था कि अंग्रेज पहले हमारे देश से जायें उसके बाद हम सभी भारतीय मिलकर सद्भाव से अस्पृश्यों का ही नही बल्कि हिन्दू, मुसलमानों की समस्याओं के साथ–साथ अन्य सभी समस्याओं का समाधान कर लेगें। जबकि अम्बेडकर बार–बार कहते थे कि अस्पृश्यों की समस्याओं के अन्त के बिना स्वराज्य का मिलना औचित्यहीन है। अन्त में उन्होंने भी स्वाधीनता संग्राम के मूल्यों को स्वीकार किया तथा संविधान में अपना अहम योगदान करते हुए उसे स्थापित किया।

सन्दर्भ–

1. डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकरः राइटिंग एण्ड स्पीच, खण्ड 12–पेज 87 ।
3. डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकरः राइटिंग एण्ड स्पीच, खण्ड 01–पेज 862 ।
3. सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया का वायसराय को पत्र दिनाँक 28 दिसम्बर 1932।
4. सेक्रेटरी आफ स्टेट ने वायसराय का पत्र दिनांक 27 नवम्बर 1942।
5. ट्रान्सफर आफ पावर वाल्यूम VII पृष्ठ 142–147।
6. डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकरः राइटिंग एण्ड स्पीच वाल्यूम 8, शिक्षा महाराष्ट्र सरकार 199, पृ0 367, खण्ड–12, पृष्ठ–87।
7. यंग इण्डिया नवम्बर 1919, राघवन एण्ड अय्यर दि मारल एण्ड पोलिटिकल थाट आफ महात्मा गाँधी (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 2000 पेज 294)।
8. विलियम शिरेर : गाँधी एममाय।
9. यंग इण्डिया 12 मई 1920 गाँधी वाङ्मय (गाँधी के लेख का सारांश)

••••

*(प्रवक्ता) राधा कुमारी इण्टर कालेज,
ठूठीबारी–महराजगंज (उ0प्र0)
मो0–9651844759

☞ शोधार्थियों से निवेदन है कि शोध-आलेख अधितम् 2000 शब्दों का ही भेजें, जो कि हिन्दी फान्ट Kruti Dev- 010 अथवा अंग्रेजी फान्ट Times New Roman में टाइप करें।

☞ शोध-आलेख की प्रिंट कापी तथा सी.डी. दोनों रूप के साथ अपना फोटोग्राफ भी अवश्य भेजें।

☞ शोध-आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिका की आजीवन सदस्यता आवश्यक है।

गाँधी का धर्म विचार

श्वेता सिंह

रोम्याँ रोला ने एक बार उल्लेख किया है–"गांधी के दर्शन को समझने के लिए हमें उनके सिद्धान्तों को दो विविध मंजिलों वाली एक ऐसी विशाल इमारत माननी होगी जिसकी आधारशिला 'धर्म' के मजबूत खम्भे पर टिकी है। इसी विशाल अविचल धरातल पर उनके सामाजिक व राजनीतिक दर्शन की नींव टिकी है। इस प्रकार गांधी के राजनीतिक दर्शन व राजनीति की तकनीक उनके धार्मिक व नैतिक सिद्धान्तों के दो उपसिद्धान्त मात्र हैं।[1] गांधी धर्म को नितांत व्यक्तिगत मामला मानते थे। उनका कहना था कि "जितने मस्तिष्क हैं, उतने धर्म भी हो सकते हैं; क्योंकि भगवान की संकल्पना प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने ढंग से तथा विशिष्ट रूप में करता है।[2] गांधी की दृष्टि में "धर्म, सत्य एवं अच्छाई का आधार है। सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। धर्म एवं नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं।[3] "मेरे लिए नैतिकता एवं धर्म विनिमेय पद है। धर्म के सन्दर्भ के बिना नैतिक जीवन ऐसा ही है जैसा बालू के आधार पर बना भवन। यदि धर्म से नैतिकता को अलग कर दिया जाय तो कुछ भी अर्थपूर्ण शेष नहीं रहेगा।[4]

गांधी दृढ़ता के साथ पुनः कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति धर्म के बिना नहीं रह सकता। कुछ लोग ऐसे हैं जो अहं से प्रेरित होकर अपने आपको धर्म से पृथक बताते हैं। लेकिन यह उस व्यक्ति के समान है जो साँस तो लेता है लेकिन उसकी नाक नहीं है। चाहे विवेक से, तर्क से या अन्तर्बोध से किसी न किसी माध्यम से मानव उस दिव्य शक्ति के साथ अपने सम्बन्धों का बोध करता है।"[5] अपने धर्म की अवधारणा को वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– 'धर्म' वह है जो सभी धर्मों में अर्न्तनिहित है तथा जो हमें निर्माता के आमने सामने ला देता है। गांधी ने अपने दर्शन में धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हुए कहा है कि मैंने आज तक जो कुछ किया है तथा जो कुछ भी कहा है उसके पीछे एक धार्मिक उद्देश्य और धार्मिक चेतना रही है।[6] उनका विश्वास था कि बिना नैतिक अथवा धार्मिक आधार के जीवन एक टेढ़ी–मेढ़ी तथा दिशाविहीन पगडण्डी के समान है, क्योंकि मनुष्य के दूसरे कार्यों की भांति राजनीति भी या तो धर्म अथवा अधर्म द्वारा अनुशासित होती है। धर्म के नैतिक आधार के बिना जीवन अर्थहीन हो जाता है। 'धर्म' मानव सेवा सर्वहित, सर्व कल्याण, देश–प्रेम आदि सभी का समष्टि रूप हैं। एक सृजनात्मक शक्ति तथा नैतिक अनुशासन की व्यवस्था के रूप में, 'धर्म' को स्वीकारते हुए वे कहते हैं "मेरे मत में धर्म का अर्थ है– 'नैतिकता'। मैं किसी ऐसे धर्म को नहीं मानता जो नैतिकता का विरोध करता हो या नैतिकता के परे कोई उपदेश देता हो। धर्म तो वास्तव में नैतिकता को व्यवहार में घटित करने की पराकाष्ठा है।"[7] उन्होंने समाज में व्याप्त धर्म के विकृत रूप की पुर्नव्याख्या, की। धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्व स्वीकार किया और यह माना कि धर्म को निकाल देने से व्यक्ति एवं समाज दोनों निष्प्राण एवं शून्य हो जाते हैं। धर्म एक शाश्वत तत्व के रूप में हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाईयत्व से परे है।[8] उपरोक्त तथ्यान्वेषण से यह सिद्ध होता है कि गांधी के धर्म अवधारणा में नैतिकता का समावेश साधन के रूप में हुआ है।

गांधी जी ने 'धर्मतत्त्व' को गुजराती भाषा में निम्न रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया है–

"धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य न थी, परन्तु हृदयग्राह्य छे। आपणाथी जुदी एवी ए वस्तु न थी, परन्तु एबी वस्तु छे के जेने आपणे आपणा पोतामांथीज खीलववानीछे। ते सदा आपणा अंतरमाजछे। केतताकोने तेनु भान छे, वीणा केडलाकोने तेनुं जरापण भाननथी, परन्तु ते तत्व तेओमापण छ।..... धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी शके छे अनोपोतेज खुए छे। समुदाय मांज वचावी शकाय ते धर्म नथी, मत छे।"[9]

अर्थात् "धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य नहीं हृदय ग्राह्य है। वह हममें से अलग कोई चीज नहीं। परन्तु वह ऐसी वस्तु है, जिसे हमे अपने अन्दर से ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अन्तर में ही है। कुछ लोगों को उसका भान है, दूसरे कुछ को उसका जरा भी भान नहीं। लेकिन वह तत्व उनमें भी है..... धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह है। उसे मनुष्य स्वयं ही रख सकता है और स्वयं ही खेता है। समुदाय में ही जिसकी रक्षा की जा सके, वह धर्म नहीं मत है।" गांधी के अनुसार 'धर्म' वह प्रकाश है जो व्यक्तिगत है, व्यक्ति के अन्दर उसी से मिला हुआ है और जिसे समझ कर चलने से वह दीपक की भांति जलकर हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। जब तक वह व्यक्ति के सत्य के रूप में रहता है तभी तक धर्म है, समाज में आकर वह मत हो जाता है। सामाजिक रूप में आने पर उसके बाह्य संगठन, बाह्य आकार–प्रकार पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है। समाजगत धर्म या 'मत' तो धर्म का शरीर है; वह आकार का, विस्तृति का, क्षेत्रफल का द्योतक है। तात्विक प्रकाश का, अन्तःस्फूर्ति का आत्मानुभव का द्योतक नहीं। समाजगत धर्म बाह्याचार को संख्या को, विस्तार को महत्व देता है, इसलिए व्यक्ति के हृदय में चिर–सत्य का जो स्वाभाविक प्रकाश होता है, उसे ही धर्म कहा जा सकता है।[10]

महात्मा गांधी के धर्म की अवधारणा में आध्यात्मिकता से अधिक नैतिकता को महत्व मिला है। वे मानते हैं कि बिना नीति के न व्यक्तिगत और न सामूहिक रूप से मनुष्य की उन्नति हो सकती है। उनके लिए नीति आध्यात्मिक अनुभव की सीढ़ी है।

नीति से मनुष्य को यह ज्ञात होता है कि उसे कैसा बनना चाहिए। मनुष्य जैसा है, जिस स्थान पर खड़ा है, उस अवस्था से, उस स्थान से, जैसा उसे होना चाहिए अर्थात् जहाँ उसे जाना है वहाँ तक पहुँचने के लिए जो मार्ग है, जो नियम है, जो सिद्धान्त है, उन्हें ही नीति कहते हैं। यह हमारे भविष्य का निर्माता है। आगे हम जैसा बनेंगे या दुनिया को बनायेंगे, वह सब इसके अन्तर्गत आ जाता है। इस परिभाषा के अनुसार धर्म का समावेश भी नीति में हो जाता है।

यदि धर्म, धर्म बना रहे, यदि उसे शुद्ध तत्वज्ञान का आत्मा को दिव्य मन्दिर का रक्षक मानें तो यह नीति के बिना अशक्त है। गाँधी का कथन था, "सच्ची नीति में बहुत अंशों में, धर्म का समावेश हो जाता है।"[11]

पुनः धर्म को नीति के रूप में आचरित कैसे किया जायेगा? क्योंकि नीति तो अपने व्यावहारिक रूप में सामाजिक है, जबकि उसका मूल व्यक्ति के अन्दर है। इसलिये जो बात एक आदमी के लिए नीतिमय हो सकता है, वही दूसरे के लिए अनीतिकर भी हो सकता है। गाँधी कहते हैं कि नीति में यद्यपि भावना–प्रधान है। कार्य तो उसका बाह्य रूप है, उसे तो अच्छा होना ही चाहिए पर उसके पीछे जो भावना हो, उसका सात्विक एवं उर्ध्वमुखी होना अनिवार्य है। नीति के लिए भावना की पवित्रता एवं शुभसंकल्प अनिवार्यतः आवश्यक है। पुनश्च वह कहते हैं कि नीति का विचार करते समय हमें यह देखना चाहिए कि जो कार्य हमने किया है, वह शुभ है और शुद्ध भाव से किया गया है। इस प्रकार नीति में कार्य और भाव दोनों शुद्ध होना चाहिए, फल चाहे कुछ भी हो। इस प्रकार गांधी के अनुसार निष्काम भाव से किया हुआ कार्य ही नीति युक्त कहा जा सकता है और इसलिए उत्तम नीति या विशुद्ध नीति धर्म के लिए महात्मा गांधी निम्नलिखित शर्तें प्रस्तुत करते हैं–

(1) काम शुभ हो, (2) शुभ भावना से किया गया हो, (3) जबर्दस्ती या दबाव के कारण नहीं, स्वप्रसूत अपने आप हो, (4) किसी प्रकार के भय के कारण न किया गया हो, (5) अपने लाभ एवं स्वार्थ की उसमें इच्छा न हो, (6) आत्मानुभव में आस्था रखकर किया गया हो।

सत्य एवं अहिंसा का धर्म से सम्बन्ध : गांधी के लिए सत्य एवं अहिंसा से बढ़कर कोई भी मानवीय मूल्य नहीं है। इसलिए उन्होंने कहा है कि– मेरे पास इस जगत में सत्य और अहिंसा के सिवा कोई दूसरी चीज नहीं है। आप सत्य एवं अहिंसा को पहचान लें तो दुनिया में बड़ा से बड़ा काम हो सकता है। सत्य और अहिंसा दो अलग–अलग शब्द हैं, लेकिन इनमें पारस्परिक विरोध नहीं है। क्योंकि सत्य की ही तरह अहिंसा भी सर्वशक्ति सम्पन्न और असीम है, तथा ईश्वर का समानार्थक है। गांधी जी ने अहिंसा को सत्य से प्राप्त किया है। उनके अनुसार मैं तो ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि सत्य ही ईश्वर और ईश्वर को पहचानने का एक ही अचूक साधन अहिंसा है। अहिंसा वह ज्योति है, जिसके द्वारा सत्य का दर्शन होता है। अहिंसा सत्य का प्राण है। अहिंसा के शक्ति के विषय में पातंजल योग दर्शन मे भी लिखा है– 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग' (पातंजल योगदर्शन, साधन पाद 5) अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक के समीप सबका वैर भाव नष्ट हो जाता है। अहिंसा भी तभी सफल होती है जब हम ईश्वर के प्रति जीवन्त आस्था रखते हैं। अहिंसा का अनुप्रयोगात्मक सिद्धान्त गांधी जी का न्यासिता का सिद्धान्त है।

अतः सत्य और धर्म का यह तादात्म्य महात्मा गांधी के दर्शन में हुआ है। गांधी जी सत्य से अलग किसी धर्म के विषय में नहीं सोचते थे। इसलिये उन्होंने कहा है कि, 'मैं प्रायः अपने धर्म को सत्य धर्म कहता हूँ।'[12] कारण यह है कि कोई भी क्रिया जो सत्य का विरोध करे उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म तो वही है जो विश्वमान नैतिक मूल्यों के अनुकूल हो। सत्य से विपरीत होकर किसी मान्य नैतिक मूल्यों की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए सत्य को पर धर्म माना जाना श्रेयस्कर कहा जा सकता है। ऐसे ही धर्म को पूर्ण सत्य शाश्वत एवं नित्य कहा जा सकता है। जो अपूर्ण मानव व समुदाय के बुद्धि द्वारा निष्पन्न नहीं है। अतः गांधी जी का सैद्धान्तिक पक्ष सत्य प्रधान था उनका सारा जीवन सत्य के साथ किया गया प्रयोग है। इस प्रयोग में उन्होने सत्य के साथ मेरे प्रयोग नामक आत्मकथा लिखा। उनके लिए सत्य का अर्थ निरपेक्ष सत्य था।

यहाँ विचारणीय है कि सामाजिक व्यवहार में सत्य का व्यवहारिक महत्व क्या है? और सामाजिक आचरण के सन्दर्भ में इसका परिचय कैसे होता है? दुर्भाग्य से सत्य के नैतिक निहितार्थ के सम्बन्ध में गांधी ने स्पष्टतः कुछ नहीं कहा है। संसार को वे यह मानकर चलते हैं कि सामान्य व्यक्ति को सत्य का आभास है; वे कहते हैं–

'साधारणतः यह समझा जाता है कि सत्य व्रत पालन का अर्थ है कि हमें सर्वदा सत्य बोलना चाहिये किन्तु आश्रमवासियों को सत्य शब्द को अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। विचार से सत्य, वाणी में सत्य एवं कार्य में सत्य होना चाहिए'।

इसप्रकार गांधी का धर्म विचार भारतीय औपनिषदिक परम्परा का आधुनिक संस्करण है। गांधी का धर्म तत्व गुह्य है तथापि उसके उपाभास की उपलब्धि सर्वसुलभ है। तथा धर्म तत्त्व की प्राप्ति में साधन व्यावहारिक एवं मौलिक है। सत्य एवं अहिंसा, नीति एवं धर्म, सत्याग्रह एवं सदाचार के माध्यम से धर्म की प्राप्ति करने का गांधी का सुझाव उनके धर्म दर्शन को विश्वव्यापी होने का पर्याप्त तार्किक आधार प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ–

1. डी. नेसी, "इथिकलरिलिजन ऑफ ट्रूथ, एण्ड लव एण्ड सफरिंग" इन, ए.डी. मिश्रा (स.), गांधीयन एप्रोच टू कन्टेम्परोरी प्राब्लम्स, नई दिल्ली, मित्तल प्रकाशन, पृ0 35।
2. एम.के. गांधी, इथिकलरिलिजन, अहमदाबाद, नवजीवन, 1968, पृ0 19।
3. हरिजन, 3 अक्टूबर, 1936, पृ0 268।
4. एम. के. गांधी, माई रिलीजन, अहमदाबाद, नवजीवन, 2002, पृ0 3।
5. एम. के. गांधी, माई रिलीजन, अहमदाबाद, नवजीवन, 2002, पृ0 3।
6. पी. माणि महाजन एवं के.सी. भारती, फाउण्डेशन ऑफ गांधीयन थॉट, पृ0 1–20।
7. यंग इण्डिया, भाग–2, पृ0 296।
8. नवजीव, 21 जुलाई, 1929।
9. रामनाथ सुमन, गांधीवाद की सार्थकता, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 19।
10. वही, पृ0 22।
11. रामनाथ 'सुमन', गांधीवाद की सार्थकता, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, पृ0 23।
12. रामनाथ सुमन, गाँधीवाद की सार्थकता, पिलग्रिस प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 58।

●●●●

*शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग
का.हि.वि.वि., वाराणसी

नाथ सम्प्रदाय में योग : एक विश्लेषण

अम्बरीष राय

भारतीय योग–परम्परा के अन्तर्गत नाथ– सम्प्रदाय योग की सशक्त और प्रभावशाली परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। नाथ शब्द की साम्प्रदायिक अर्थ में व्युत्पत्ति करने से ज्ञात होता है कि "ना" का अर्थ अनादि रूप और "थ" का अर्थ भुवनत्रय की स्थापना है।[1] नाथ सम्प्रदाय के और कई नाम प्रचलित हैं जैसे–सिद्धमत, सिद्ध–मार्ग, योग–मार्ग, योग–सम्प्रदाय, अवधूत–मत और अवधूत–सम्प्रदाय आदि।[2] नाथ सम्प्रदाय की गुरू–परम्परा के अनुसार आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहनिनाथ तथा ज्ञाननाथ नाथ–सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हैं।[3] गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। योग–साधना के सिद्धान्तों के आधार पर योगी गोरखनाथ ने एक सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इसीलिये गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग–सम्प्रदाय के योगी सामान्यतः "नाथयोगी; सिद्धयोगी; दरसनी योगी" या "कनफटा योगी" के नाम से जाने जाते हैं। कनफटा योगियों के विषय में प्रोफेसर ब्रिक्स ने लिखा है –"कनफटा योगी भारतवर्ष में सर्वत्र पाये जाते हैं। वे किसी भी धार्मिक–सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत हैं। वे दक्षिण के उत्तरी भाग, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि तथा नेपाल में तपस्वियों और यतियों के रूप में कभी छिट–पुट तो कभी संगठित भी मिलते हैं। " इस सम्प्रदाय के योगियों के कुछ निश्चित प्रतीक हैं, जिन्हें केवल व्यवहारगत साम्प्रदायिक चिह्न नहीं माना जाता, बल्कि जिनका एक सुनिश्चित अर्थ है। नाथ सम्प्रदाय को भारतीय योग दर्शन ने अत्यधिक प्रभावित किया है। भारतीय परम्परा में योग का सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक अनुशासन से माना गया है तथा ज्ञान, कर्म, उपासना और भक्ति सभी मार्गों में योग की उपादेयता स्वीकार की गयी है। योग मनुष्य की चित्तवृत्तियों को उर्ध्वमुखी बनाकर उस समाधि की उच्चतम् अवस्था तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दृष्टि से योग भारतीय वाङ्मय का महत्वपूर्ण विषय रहा है, जिसका पूरा–पूरा प्रभाव नाथ योगियों पर पड़ा है। नाथ योगियों में गोरखनाथ जी प्रमुख आचार्य हुए जिन्होनें नाथ सम्प्रदाय को अपनी प्रतिभा से पुष्ट किया। गोरखनाथ की रचनाएँ योग दर्शन की परम्परा से पूर्णरूपेण प्रभावित है। वे जिस आत्माराम से एक होने की बात करते हैं वह योगदर्शन के अनुरूप है। गोरखनाथ जी ने जिस निश्चल एवं निष्काम साधना का प्रतिपादन किया है तथा चित्त की दृढ़ता पर बल दिया है, वह योग दर्शन का सारांश संदेश है। संसार में रहते हुए विरक्त हो जाना तथा देह के रहते हुये विदेह की स्थिति को प्राप्त करना योग का परम लक्ष्य है। नाथ साहित्य का सिंहावलोकन करने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इनके दार्शनिक सिद्धान्त शैवदर्शन से साम्यता रखते हैं। शैव–दर्शन के मूल सिद्धान्तों को मानते हुये उन्होनें योगदर्शन को एक नवीन आयाम, एक नवीन व्याख्या देने का प्रयत्न किया। गोरखनाथ जी ने अपने योग सम्बन्धी उपदेशों का प्रचार–प्रसार करते हुये देश के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से भ्रमण किया था। इस व्यापकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि देश के भिन्न–भिन्न भागों में उनके द्वारा स्थापित संस्थायें आज भी विद्यमान हैं। गोरखनाथ की रचनाओं में अद्वैत वेदान्त के साथ योग का समन्वय है। इसके अतिरिक्त शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन ने भी उनकी भाव–भूमि को प्रभावित किया है। उनकी रचनाओं में योगपरक उक्तियों की संख्या अत्यधिक है। पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। गोरखनाथ ने भी चित्तवृत्तियें के निरोध पर बल दिया है। चंचल चित्त ही मनुष्य की समस्याओं का मूल कारण है। इनके निवारणार्थ योगांगों का वर्णण नाथ सहित्य में भी मिलता है।

नाथ योगियों में "हठयोग" की साधना प्रचलित है। हठयोग को "राजयोग" की प्राप्ति के लिये एक सोपान माना जाता हैं। "स्वात्माराम योगी" ने अपनी कृति में इस तथ्य को व्यक्त किया है।[4] गोरक्षपद्धति[5] नाथ–सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ है। इसमें हठयोग और राजयोग अपने सर्वसमुच्चय सारभूत रूप में प्रकट हुआ है। हठयोग से समाधि अवस्था एवं उन्मनी भाव की सिद्धि होती है तथा शून्याशून्य परम पद की प्राप्ति करता है। हठयोग की साधना का मर्म"प्राण साधना" है।

नाथ–योग में प्राण–अपान, रज एवं वीर्य, सूर्य एवं चन्द्र तथा जीवात्मा एवं परमात्मा (शिव–शक्ति) के संयोग को योग कहा गया है।[6] इसमें मुख्यता षडंग–योग की साधना प्रचलित है। इसके अन्तर्गत छः प्रमुख स्थितियाँ आती हैं। "गोरक्षशतक" में षडंग–योग का उल्लेख किया गया है। इसके आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि को योग के छः अंग माने गये हैं। यद्यपि नाथयोग से सम्बन्धित कृतियों में प्रायः हमें सभी जगह षडंग–योग का ही उल्लेख मिलता है, तथापि "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" एवं "दत्तात्रेय संहिता" आदि ग्रन्थों में यम–नियम की गणना करके अष्टांग–योग का वर्णन भी किया गया है। यम–नियम का वर्णन हमें "हठयोग– प्रदीपिका" में भी मिलता है, परन्तु उसको योगांगों में परिगणित न करके षडंग–योग का ही निरूपण हुआ है। यम–नियम का अर्थ "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इन्द्रियपूर्वक आहार, निद्रा, शीत, वात एवं आतप आदि द्वन्द्वों की नियन्त्रित कर योग साधना में लीन रहना ही यम है। नाथयोगी दस यम और दस नियम की व्याख्या करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, ऋजुता(जीवन में सरलता) युक्ताहार तथा शौच ये दस यम हैं।

मन के व्यापार का नियन्त्रण ही नियम है। एकान्तवास, असङ्गता प्राप्त वस्तु में ही सन्तुष्टि एवं गुरू चरण के आश्रय में ही निर्भरता नियम के लक्षण माने गये हैं।[7] तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर–पूजन, सिद्धान्तश्रवण

अर्थात् आध्ययत्मशास्त्र का पठन–पाठन एवं मनन ही मति, तप एवं हवन ये दस नियम बताये गये हैं। हठयोग–प्रदीपिका में यम–नियम का उपरोक्त वर्णन किया गया है।[8] इसी तरह आसन का भी वर्णन मिलता है। हठयोग की साधना का प्रथम अंग आसन है। अपने स्वरूप में चेतना की संस्थिति ही आसन है।[9] नाथ–योगियों की मान्यता है कि भगवान् शिव ने लाख आसनों का उपदेश दिया था, जिनमें चौरासी आसन ही मुख्य हैं।[10] इनमें से कुछ प्रमुख आसन, उत्तानकूर्मासन, आकर्षण धनुरासन, मत्स्येन्द्र आसन, मयूरासन, शवासन आदि हैं। इसके अतिरिक्त चार अन्य श्रेष्ठ आसनों की भी व्याख्या मिलती है। हठयोग–प्रदीपिका में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन एवं भद्रासन इन चारों आसनों की श्रेष्ठतम स्वीकार किया गया है।[11] आसनों में सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ आसन माना गया है।[12] आसन के पश्चात् एवं प्राणायम के पूर्व षट्कर्म करने का निर्देश दिया गया है। षट्कर्म द्वारा शरीर के दोषों का शोधन होता है। धौति, वास्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति ये षट्कर्म हैं।[13]

नाथ–योग में प्राणायाम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा वर्णन[7] मिलता है कि निर्मल चित्त में स्वात्मज्ञान प्रकाशित होता है। इसलिये मुमुक्षु को प्राणजय करना चाहिये।[14] हठयोग–प्रदीपिका में कुम्भक प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है। सूर्यभेदन, उज्जयायी, सीत्कारी, शीतली, मस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लाविनी[15] आदि प्राणायम प्रमुख हैं। कुण्डलिनी जागरण हेतु नाथयोगी मुद्रा एवं बन्ध का अभ्यास बताते हैं। ये दस हैं[16]–आसन के माध्यम से शरीर को स्वस्थ बनाकर, प्राणायम के द्वारा प्राण का संयमन एवं मुद्रा आदि के अभ्यास से प्रत्याहार सिद्ध होता है। प्रत्याहार का वर्णन एवं उसकी परिभाषा सिद्धसिद्धान्तपद्धति में मिलती है।[17] प्रत्याहार के द्वारा काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि विकारों का विनाश होता है। महर्षि घेरण्ड ने कहा है कि जहाँ–जहाँ मन चंचल होकर भ्रमित होता है, वहाँ–वहाँ से लौटाकर उसे वश में करना चाहिये।[18] इसी तरह धारणा का उल्लेख भी किया गया है। धारणा के लक्षण को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि बाहर एवं भीतर एक ही निज–तत्व रूप परम शिव व्याप्त है। अन्तःकरण से इस तरह की भावना करना ही धारणा का लक्षण है।[19] ऐसा कहा जाता है कि धारणा के द्वारा ही पृथ्वी तत्व, जल–तत्व, अग्नितत्व, वायुतत्व आदि की शक्ति प्राप्त होती है तथा आकाशतत्व की धारणा को मन एवं प्राण के साथ लयपूर्वक करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[20]

ध्यान का अन्तिम लक्ष्य आत्मा में चित्तवृत्ति का लय होना है। नाथयोगियों में ध्यान के तीन प्रकार पाये जाते हैं– स्थूल ध्यान, ज्योर्तिध्यान और सूक्ष्मध्यान जिसके द्वारा हमें इष्टदेव या गुरू का चिन्तन हो उसे स्थूल ध्यान, जिससे तेजोमय ब्रह्म या शक्ति का ध्यान हो वह ज्योर्तिध्यान, जिससे ब्रह्म कुण्डलिनी का जागरण हो उसे सूक्ष्म–ध्यान कहा जाता है।[21] विवेक–मार्तण्ड में तभी चिन्ताओं से रहित निश्चल तत्व सम्बन्धि चिन्तन को ध्यान कहा गया है।[22] गोरक्षनाथ ने समाधि के विषय में बताते हुए कहा है कि – समस्त तत्वों की साम्यावस्थागत अनायास स्थिति ही समाधि है।[23] इसी तरह से गोरक्षसंहिता,[24] हठयोगप्रदीपिका[25] में भी समाधि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाथ–सम्प्रदाय में अष्टांग–योग की ही तरह षडंग योग की साधना को स्वीकार किया गया है।

इसके अतिरिक्त नाथ–सम्प्रदाय में नाट्यसाधना का भी वर्णन मिलता है। हमें हठयोग प्रदीपिका में नादानुसन्धान का वर्णन स्थान–स्थान पर प्राप्त होता है। इसकी चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है– आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था।[26] इस प्रकार उपरोक्त षडंग साधना में हमें षट्कर्म, नाद साधना आदि का प्रभावशाली प्रतिपादन नाथयोग में प्राप्त होता है।

नाथयोगियों ने योग को जिस सशक्त रूप में प्रस्तुत किया उसका भारतवर्ष में लम्बे काल तक अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। नाथयोग की सशक्त साधना का ही यह प्रभाव है कि आज आधुनिक युग में भी भारतवर्ष के अन्दर नाथ–सम्प्रदाय के अनेक जीवित, जागृत साधना केन्द्र उपलब्ध हैं।

सन्दर्भ–

1. नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा। भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोस्तुते।। –राजगुह्ययतंत्र।
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ01।
3. श्रीमती सरस्वती सहगल–गोरक्ष–दर्शन, मधु प्रिण्टर्स, हैदराबाद(1979), पृ03।
4. योगीन्द्र स्वात्मारायः हठयोग प्रदीपिका, 1.1।
5. "गोरक्षपद्धति", प्रकाशकः खेमराज श्रीकृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् 2011, शके 1876।
6. महायोगी गोरक्षनाथः योगबीज, पृ0 89–90
7. सिद्धसिद्धान्तपद्धती, 2.33
8. हठयोग–प्रदीपिका, 1.18
9. सिद्धसिद्धान्तपद्धती, 2.34
10. गोरक्षशतक, 9.
11. हठयोग–प्रदीपिका, 1.36, गोरक्षशतक,
12. हठयोग–प्रदीपिका, 1.37
13. वही, 2.22
14. योगबीज, 83.86
15. हठयोग–प्रदीपिका, 2.44
16. हठयोग–प्रदीपिका, 3.6–7
17. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2.36
18. घेरण्डसंहिता, 4.2
19. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 3.37
20. विवेकमार्तण्ड, 160–62
21. घेरण्डसंहिता, 6.9
22. विवेकमार्तण्ड, 165
23. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 3.39
24. गोरक्षसंहिता, 2.82
25. हठयोगप्रदीपिका, 4, 6–7
26. वही, 4.69

••••

सहायक निदेशक,
रामानन्दपीठ जे0आर0एच0यू0 चित्रकूट, उ0 प्र0

संजीव की कहानियों में दलित-विमर्श

विद्याप्रकाश सिंह

हिन्दी कहानियों में जब–जब भाषा की व्यंजना, शिल्प की तलाश और शैली के बाँकपन की बात आयेगी; जब–जब आदमी और जगत के बीच द्वन्द्वात्मक रिश्तों की पड़ताल करते हुए मन के निविड़तम कोने से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर अन्तर्धाराओं और उथल–पुथल का लेखा–जोखा लिया जायेगा या जब–जब विश्व कथा के निकष पर हिन्दी कहानी की बात की जायेगी, वह संजीव की कहानियों के बिना पूरी नहीं होगी।

बतौर संजीव, ''लेखन ने मुझे कुछ दिया हो या नहीं, मगर मनोजगत की अर्गलाएं, खिड़कियां खोलते बन्द करते, दीवारों के पुस्तेपन, सीलन या भुरभुरेपन को महसूसते, आदिम ग्रन्थ की खोहों से, तिसरों के आगे तक स्मृति और कल्पना की आँख मिचौलियों में भटककर सत्य को टटोलना मेरे लिए एक दिलचस्प अनुभव रहा है। इसलिए मेरी हर रचना मेरे लिए शोध की प्रक्रिया से गुजरना है। यहाँ प्रश्न भी है, समाधान भी, यातना भी और यातना से उबरने का माध्यम भी, निपट एकान्त गुफा भी है और पहाड़ वाली झंझा में उबरने का साधन भी, हर पल तिल–तिल कर मरना भी है और मौत के दायरे के पार जाने का महामंत्र भी।''

हिन्दी कथा साहित्य में दलित–चेतना को संवर्धित करने का श्रेय संजीव को है। अपनी कहानियों के माध्यम से उन्होंने दलित वर्ग के उत्थान को सहारा दिया है। संजीव ने अपनी कहानियों में वेद–विरोधी, नास्तिक दर्शन व अभिजात वर्ग की सामंती भाषा के विरूद्ध जन–भाषा में भी दलित–चेतना का आविर्भाव किया। पूर्वाग्रह युक्त परम्परागत विचारधाराओं के संचालकों ने जहाँ एक ओर निजी स्वार्थ के अनुकूल अध्यात्म व दर्शन की संरचना की, वहीं उन्होंने सामाजिक असमानता, धार्मिक पाखण्ड, अंधविश्वास, जातीय बिलगाव, अस्पृश्यता आदि सामाजिक विद्रूपताओं को जन्म देकर उन्हें हवा दी। इसी का परिणाम है कि बहुसंख्यक समुदाय सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक दृष्टि से शोषित व उत्पीड़ित किया जा रहा है।

संजीव का प्रथम कहानी संग्रह है– 'तीस साल का सफरनामा'। इस कहानी संग्रह में प्रमुख कहानियाँ हैं– किस्सा एक बीमा कम्पनी एजेंसी का, बागी, प्रतिद्वन्द्वी, मरोड़, फुलवा का पुत्र, कथा एक चिक कुमार की, टीस, चाकरी आदि। दलित वर्ग की उपेक्षित सामाजिक सरोकारों पर अपनी प्रसिद्ध कहानी 'किस्सा एक बीमा कम्पनी एजेंसी का' में कहते हैं– ''हर पढ़ा लिखा युवक अगर नौकरी ढूँढ़ेगा तो कहाँ से आयेगी इतनी सारी नौकरियाँ! नौकरी की ऐसी जरूरत भी क्या है जबकि रोजगार की अन्य अनन्त सम्भावनाएँ सामने खड़ी हो। युवकों का वसूल कुछ इस तरह से होने चाहिए कि ऐसा रोजगार जो स्वार्थ और परमार्थ दोनों का साधन हो, बल्कि दूसरों के भले में ही अपना भला देखना।''

संजीव की कहानियों में एक मानवीय पक्ष भी है। इस संसार में जहाँ हर किसी को अपना पक्ष चुनने की आजादी है, उसे पक्षधरता की कीमत भी चुकानी पड़ती है।

चाहे शोषक बने या शोषित, स्वतंत्र बने या गुलाम, खतरे और नियति तो सभी को होती है, संजीव की भी है कभी–कभी संजीव कहानियों में क्रमशः अपना बौद्धिक विकास करते गये हैं पर जीवन में उसे कुछ अंशों तक ही उतार पाये हैं या उतारते–उतारते इतनी देर कर दी कि उसके कोई विशेष मायने नहीं रह गये हैं।

संजीव की प्रसिद्ध कहानी है– बाघ। कहानी में बाघों के संरक्षण के पीछे आम आदमी पर अत्याचार किये जा रहे हैं। संजीव कहते हैं कि दलित यहाँ दोहरी मार झेल रहा है। बाघ से तात्पर्य उन मनुष्यों से है जो सामंती व्यवस्था की खाल पहनकर दलितों का शोषण कर रहे हैं। ये अपने पद के रुआब पर कामगर–मजदूरों का शोषण करते हैं। कहानी का नायक 'गोपाल' कहता है–

''स्याले हराम का खाकर बाघ बने हुए हैं... ठीक है भाई ठीक है, माना कि तुम बाघ हो, सरकार के जमाई हो, पर ये क्या कि हिरणों को खाने से पेट नहीं भरा तो हमें खाने चले आये। हमारी तरह खटकर खाना पड़ता तो अकल ठिकाने आ जाती। जिस पर सरकार कहती है कि बाघ भले तुम्हे मार डाले, तुम बाघ को नहीं मार सकते।''

संजीव प्रश्न उठाते हैं कि क्या व्यवस्था के इस जंगल में सिर्फ बाघ बनकर ही जिया जा सकता है?क्या हर एक दलित व्यवस्था के निपट जंगल में मजबूर होकर 'बाघ' बन जाए या निकल पड़े अकेला आस्था, विश्वास और मनुष्यता के जीवित रहने की संभावनाओं को खोजने? यह संवेदनशील और प्रतिबद्ध रचनाकार के मनःजगत की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। संजीव इससे हर बार गुजरते हैं। यह लहूलुहान होना शारीरिक नहीं, मानसिक होता है जिसके माध्यम से वे कहानी में समकालीन विडंबना मूलक यथार्थ की पहचान करवाते हैं।

संजीव की अगली महत्वपूर्ण कहानी है– 'आप यहाँ हैं'। नेपाल के उर्वर सीमान्त में वर्मा साहब का पूरा परिवार रहता था। नौकरानी की जरूरत मिसेज वर्मा को थी। एक दलित स्त्री जो कि अपनी पीठ पर एक बच्चा भी बाँधे हुए थी, उसे कंगारू का बच्चा कह कर मजाक उड़ाया जाता था। नौकरानी का नाम हिंदिया था। नौकरानी के साथ मिसेज वर्मा का व्यवहार सख्त था। शोषक की हद पार कर जाती थी। कहानी में मिसेज वर्मा मिस्टर वर्मा से कहती हैं–

"...तो कर आये इनका कल्याण। तुमसे तो खैर बाद में निपट लूँगी, पहले उस चुड़ैल को मजा न चखाया तो अपने बाप की बेटी नहीं। डायन भी खाती है, सात घर छोड़कर। गरम कर के राड से दाग कर ही दम लूँगी।"

संजीव ने इस कहानी के माध्यम से दलित स्त्रियों का घर में शोषण पर प्रश्न उठाया है। काम के अतिरिक्त उन्हें मार एवं अवहेलना भी सहना पड़ता है। स्त्री होने का भी सबक उन्हें दिया जाता है। वर्मा साहब, हिंदिया पर झूठे इल्जाम लगाते हैं परन्तु पुलिस उन्हीं को डॉटती है। ऐसा लगता है कि माने अन्याय एवं अत्याचार के लिए दलित ही बनाये गये हों। भोग–विलास एवं संसाधनों से वे वंचित होते ही हैं, जीवन में मानवीय संवदेनाएं भी उन्हीं के प्रतिपक्ष में रहती है।

संजीव की प्रसिद्ध कहानियों में है– 'प्रेत–मुक्ति'। पिछड़े जंगली इलाके में सर्वेक्षण दल वहाँ के गरीबी, अशिक्षा और अन्धविश्वास से मारे हुए वनवासियों के लिए कुछ कर पाने की लालसा से जाता है। डा. मुर्तजा इस दल में प्रमुख हैं। कहानी के पिछड़े वर्ग के लोगों का सजीव वर्णन है। अंधविश्वास के चलते इन लोगों का सजीव वर्णन है। गाँव वाले एक बाघ को प्रेत मानते हैं एवं उसके मरने के उपरान्त गाँव को मुक्त मानते हैं। दलित–चेतना में वह विषय और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि गरीबी, अशिक्षा एवं बेरोजगारी से दलितों का जीवन अंधविश्वास के गर्व में चलकर और अधिक नारकीय हो जाता है।

संजीव की कहानियों में दलित–विमर्श में समानता, स्वाधीनता तथा न्याय कैसे संभव है? पर प्रश्न उठाया गया है। उसके उत्तर में उनकी मान्यता है कि यह तभी सम्भव है जब सभी विशेषाधिकारों को मिटा डालें। जाति का विशेषाधिकार, शक्ति का विशेषाधिकार, पद एवं धन का विशेषाधिकार ये सभी प्रगति के अवरोधक हैं क्योंकि ये अन्याय की सृष्टि करते हैं– "जातीय परम्परा और परिधियों को लांघकर इस शोषण के खिलाफ बुलंद हुई आवाज से 'दलित–चेतना' की उत्पत्ति हुई।"

संजीव की एक कहानी है– 'कुछ हो तो ना चाहिए न' इस कहानी में कुछ कवि, कहानीकार, नाट्यकार, पत्रकार और आलोचक किसी साहित्यिक समारोह में भाग लेने जा रहे थे। राजधानी एक्सप्रेस के चलते उनकी ट्रेन एक छोटे से स्टेशन तेवुलमारी पर रूक गयी। कहानी में नाम पट्टिका देखकर साहित्यकार भावमग्न होता है और कहानी बुनता है कि तेतुल कोई आदिवासी बाला रही होगी; किसी सामंत या माफिया सरदार की नजर लग गयी होगी, इन्कार किया होगा और मार डाली गयी होगी। साहित्यकार के इस कला–कौशल का जवाब ट्रेन में ही बैठा एक बूढ़ा आदमी देता है–

"तेतुल आपकी मान सपुत्री है। कहानी को तीखा बनाने के लिए आप चाहे उसका रेप करा दें चाहे उसकी हत्या। मुड़कर देखिए तो पता चले कि आप की रात–रात क्रान्तियों की जबानी जमा खर्च के बावजूद दुनिया आज भी वही है। उसी नरक में....।"

संजीव की एक और महत्वपूर्ण कहानी है– 'मरजाद'। इसमें अवध के एक गाँव करीमपुरा का चित्रण है। कहानी में दलितों की जमीन को अवैध रूप से कब्जा किया जाता है। कई जातियों की टकराहट इस कहानी में दिखती है। गाँव के दलित इकट्ठा होते हैं। कहानी की नायिका शान्ता, मुसम्मात काकी से कहती है, नरक है, चालीस बीघे खेत है, बाग–बगीचे हैं। हम पट्टीकारों का हक भी चूटार के तारे दबा कर बैठा है फिर भी पियास नहीं भरी हमरी एक बिगहा भुई कब्जियाने चला है।

संजीव के अतिरिक्त और श्रेष्ठ दलित साहित्यकार है सुशील कुमार, शरण कुमार लिबांले, हरीशचन्द पाण्डेय, नंदकिशोर नीलम, सोना सिंह, मधुरेश, संजय भलोटिया आदि साहित्यकारों के मध्य संजीव की दलित चेतना सर्वाधिक चिंतन प्रिय है। वे दलित से अभिप्राय केवल हरिजन और नवजौहर के लिए ही नहीं, बल्कि गाँव की सीमा से बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियों, आदिवासी–भूमिहीन खेत मजदूर श्रमिक, दुखी जनता, भटकी बहिष्कृत जाति इन सभी का दलित शब्द की व्याख्या में समावेश मानते हैं। संजीव की कहानियाँ मूलतः पिछड़े, उपेक्षित, वर्जित शोषित क्षेत्र की दर्दनाक व्यथा को वाणी देते हैं। वे प्रेमचंद और रेणु की विरासत को वर्तमान संदर्भों में निष्ठा से आगे बढ़ाते हैं। उनकी कहानियाँ परम्परा का विश्लेषण नहीं करते, वे युगीन परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करते हैं। उनके अंदर का लोकधर्मी कलाकार त्रासद जीवन के पीछे स्थिति कुटिल साजिशों की पोल खोलकर बुनियादी तथ्यों का उद्घाटन करता है।

संजीव कहानियों के माध्यम से पिछड़े क्षेत्र में स्थित शोषण की भयावह स्थिति एवं व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। इसमें निम्न वर्ग के जीवन संघर्ष एवं पूंजीपतियों की काली करतूतों को समेटा गया है। शोषण के चक्रव्यूह में निम्न वर्ग को अभिशप्त जिंदगी जीनी पड़ती है। अज्ञानता, पिछड़ापन, रूग्ण मान्यता, धार्मिक पाखण्ड, आर्थिक विषमता, जाति भेद, नारी शोषण, बंधुवा प्रथा आदि के कारण वह क्षेत्र कराह रहा है। जातीय समीकरण और शोषण के चलते प्रगति अवरूद्ध हो गयी है।

संजीव की कहानियों की बुनावट पूर्णतः देशज है। इनमें लोक जीवन की धड़कन है। एक ओर लोक संस्कृति के मूल्यवान संदर्भों की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उनकी वैज्ञानिक दृष्टि। उन्होंने अपनी कहानियों में लोकगीत, लोकरक्षा, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोक कला आदि का कलात्मक प्रयोग किया है। संघर्षशील चेतना को कलात्मक रचाव किया है। उनकी कहानियों का शिल्प क्रमशः प्रगल्भ बनता जाता है। वहाँ चकाचौंध और कृत्रिमता का अभाव है।

संजीव अपनी कहानियों के बारे में लिखते हैं– "प्रस्तुत कहानियाँ आजाद भारत के भारतीय मानस के कैनवास पर उभरे आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक यथार्थ की शिनाख्त है। सच समझना बड़ा दुष्कर है, बोलना और भी दुष्कर और सच को झेलना सबसे बड़ा दुष्कर। कहानी मेरे लिए मौज मस्ती नहीं है, जो गुदगुदा सके। देश के लाखों दलित, दमित, प्रताड़ित, अवहेलित जनों की जिजीविषा और संघर्ष का मैं ऋणी हूँ,

जिन्होंने वर्ग, वर्ण, भाषा, सम्प्रदाय के तंग दायरों को तोड़ते हुए शोषकों, दलालों, कायरों के विरूद्ध मानवीय अस्मिता की लड़ाई लड़ी है और लड़ रहे है। मेरा लेखन उनसे ऋणमुक्ति की छटपटाहट भर है।''

आधुनिक साहित्यकारों में संजीव बड़े कहानीकार हैं। आदिवासियों एवं दलित शोषित वर्ग के प्रति इनकी न केवल सहानुभूति है बल्कि उनके उद्धार एवं बेहतर जीवन की भी कामना इनकी कहानियों में है। वर्तमान समय की कलुषित राजनीति को इन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से अनावरण किया है। संसार का एक बड़ा वर्ग जो कि श्रम का आधार बिन्दु है। उपेक्षित एवं मजबूर है। जीवन की हर अभिलाषा इनके लिए महज ख्वाब है। इस नरकीय जीवन का संजीव चित्रण करके दलित चेतना को इन्होंने साहित्यिक अंग बनाया है। संजीव की कथा साहित्य यात्रा में लगभग 100 से ज्यादा कहानियों का समावेश है। ये कहानियाँ महज लेखक की मौलिकता ही नहीं है अपितु समाज के एक वर्ग की दर्दनाक आवाज को अपने में शब्दबद्ध भी की है। सभी पात्रों की एक करूणामय कहानी है जो संजीव को श्रेष्ठ कहानीकारों की पंक्ति में खड़ा करती है।

निष्कर्षतः संजीव की कथा यात्रा विविध उम्मीदें और संभावनाएँ जगाता है। वे उपेक्षित पहलुओं का गहराई से अन्वेषण कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। लेखन के लिए अछूती जमीन तलाशता है संजीव। संजीव जनधर्मी चेतना के प्रतिबद्ध और पक्षधर लेखक हैं। उन्होंने कहानी के माध्यम से हाशिए पर जीवन जीने वाले उपेक्षित, पिछड़े, शोषित लोगों की व्यथा को अधिक महत्व के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियाँ एक तरफ प्रेमचंद और रेणु से मेल खाती है तो दूसरी तरह समकालीनता को भी नजरअंदाज नहीं करती है।

दलित एवं शोषित वर्ग के नायक–नायिका होने से कहानियों में भाषाई आंचलिकता एवं सामर्थ्य भी हैं इनके कहानियों की भाषा, कथागत बिखराव एवं संदर्भ बहुलता के कारण गंभीर एवं तत्समधर्मी है।

संजीव की कहानियों में जनजातीय जीवन केन्द्र में रहा। उन्होंने आदिवासी जीवन को सैलानी दृष्टि से न देखकर गहरी रागात्मकता के साथ चित्रित किया है। वर्तमान में विकास के नाम पर जनजातियों का होने वाला विनाश और विस्थापन उनकी मूल चिंता है। स्वातंत्र्योत्तर सुदीर्घ अवधि के बावजूद ये जनजातियाँ पिछड़ेपन, अलगाव, गरीबी, शोषण सहने को अभिशप्त हैं। इन्होंने युगीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक परिदृश्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

निःसंदेह संजीव की कहानियाँ दलित–विमर्श की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

सन्दर्भ–

1. मैं क्यों लिखता हूँ, कहानी संग्रह की भूमिका, संजीव, वाणी प्रकाशन।
2. किस्सा एक बीमा कम्पनी एजेंसी का, कहानी संजीव, पृ0 13
3. संजीव मेरी नजर से, संजय भालोटिया, भारतीय लेखक पत्रिका, अप्रैल–जून 2007, वर्ष 5, अंक 3
4. 'बाघ' कहानी, संजीव, पृ0 144
5. 'आप यहाँ हैं', कहानी, संजीव, पृ0 76
6. संजीव की कथा यात्रा, पृ0 207
7. शुरू करने से पहले, संजीव, भूमिका संजीव की कथा यात्रा।

••••

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्यवर्गीय जीवन के अन्यतम चितेरे : निर्मल वर्मा

डॉ. आलोक राय

यद्यपि आज का समूचा हिन्दी साहित्य मध्यमवर्गीय जीवन–चेतना की अभिव्यक्ति का परिणाम है; किन्तु कथासाहित्य और विशेष रूप से कहानियों में तो मध्यवर्ग का ही जीवन छाया हुआ है। कथाकार स्वयं मध्यवर्ग से आये हैं और उनका अनुभव–क्षेत्र भी मुख्यतः मध्यवर्ग तक ही सीमित है। उच्चवर्ग के चित्र कहीं–कहीं परिवेश को सार्थकता प्रदान करने के लिए अंकित होते रहे हैं। उच्च वर्ग और मध्यवर्ग के बीच स्थित सुविधाजीवी वर्ग के प्रति भी आज के नये साहित्यकारों के मन में एक प्रकार का आक्रोश ही संचित है, इसीलिए यह वर्ग व्यंग्य एवं कटूक्तियों के लिए माध्यम बनकर सामने आता है। "निम्नमध्यवर्ग और मध्यवर्ग– ये दो ही आज सर्वाधिक घुटन का अनुभव कर रहे हैं। समाज के ये वर्ग एक ओर शिक्षित होने के कारण सर्वाधिक संवेदनशील हैं, दूसरी ओर आर्थिक दबाव भी सर्वाधिक इन्हीं को टूटने के लिए विवश कर रहा है।"[1] इसी वर्ग की पीड़ा, दुःख, दर्द, क्षोभ, करुणा, विवशता, हीनता और सम्बन्धगत जटिलता का चित्रण निर्मल वर्मा के कथासाहित्य में मुखर रुप से हुआ है।

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति निहित है जिसमें वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन के घात–प्रतिघात का सहानुभूतिपूर्ण चित्र उभरता है। दूसरी ओर "वे महानगरीय बोध के अन्तर्गत नागरिक जीवन में घुमड़ते अकेलेपन, अजनबीपन, मानवीय सम्बन्धों की टूटन, पारिवारिक सम्बन्धों की उदासीनता, बेरोजगारी जैसे नगरीय समस्याओं के आधार पर ही अपने उपन्यासों के कथ्य का पोषण करते हैं।"[2] 'वे दिन' उपन्यास में चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग घूमने आयी मध्यवर्गीय आस्ट्रियन युवती रायना और निन्दी की कहानी है; तो 'रात का रिपोर्टर' दिल्ली के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी जगत् पर आपातकाल की छाया के आतंक की कथा है। इसी प्रकार 'एक चिथड़ा सुख' में दिल्ली के थियेटर की जिन्दगी से जुड़ी युवक–युवतियों की कथा है। उपन्यास की मुख्य पात्र बिट्टी, मिसेज पन्त के मकान की बरसाती में रहती है लेकिन भीड़ में भी वह अकेली है, अपने कजिन के साथ रहते हुए भी।

बिट्टी एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है। बिट्टी के मापदण्ड दोहरे हैं। वह एक तरफ तो अपनों के बीच रहकर अपने जीवन के निर्दिष्ट पर पहुँचना चाहती है, लेकिन दूसरी तरफ उसे यह भी मालूम है कि उसके सम्बन्ध, पारिवारिक मान्यताएँ उसको अपने लक्ष्य तक पहुँचने नहीं देंगे और शायद इसीलिए वह मुन्नू को अपने साथ दिल्ली ले जाती है और तरह–तरह के बहाने बनाकर उसे रोके रखना चाहती है। वह सोचती है कि मुन्नू के माध्यम से वह पारिवारिक आत्मीयता से जुड़ी रहेगी, लेकिन एक भ्रम है जिसमें वह जीती है। मुन्नू उसकी अपनी आत्मीयता की आवश्यकता बन चुका होता है। इस प्रकार "बिट्टी ग्रामीण या कस्बाई परिवेश से महानगरों में आये उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो न तो अपने घर–परिवार को ही पूर्णतः छोड़ पाता है और न ही महानगरों की चकाचौंध भरी दुनिया में स्वयं को स्थापित कर पाता है।"[3]

मध्यवर्गीय जीवन के इसी अन्तर्विरोध एवं द्वन्द्वपर विचार व्यक्त करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं– "मुझे लगता है कि जिन मध्यमवर्गीय परिवारों में हम रहते हैं, वहाँ..... बहुत–सी भावनाएँ दबी ही रहती हैं, कभी सतह पर नहीं आतीं। हम बातें बहुत करते हैं लेकिन सम्बन्धों से जुड़े गहरे प्रश्नों पर चुप रह जाते हैं। कम–से–कम हम मध्यवर्गीय लोगों में तो यह विचित्र विरोधाभास है ही। बेटा महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पिता को नहीं बताता, उसकी पत्नी का चुनाव उसकी माँ करती है या बहन। वह पिता को बताएगा कि वह क्या महसूस करता है, जैसे पिता देवता हों और माँ और बहनें गणेश और हनुमान जैसे छोटे–मोटे देवता हों। इससे मौन के कई क्षेत्र तैयार होते हैं। भारतीय मध्यवर्गीय वातावरण को प्रतिबिम्बित करते ये मौन हमारे समाज के मध्यवर्ग की अव्यक्त अन्तर्व्यथा के अभिन्न अंग हैं– वह अन्तर्व्यथा, जो पश्चिम के शब्दाभिमुख समाज के शब्दों में व्यक्त होती है, भारतीय सन्दर्भ में घुटकर रह जाती है। उदाहरण के लिए कोई लड़की किसी व्यक्ति से प्रेम करती है परन्तु वह स्वयं से या उस व्यक्ति से अपनी इस भावना को बता नहीं पाती।"[4] मध्यवर्गीय जीवन की इन्हीं असामान्य विडम्बनाओं का चित्रण निर्मल वर्मा के कथा–संसार की उपस्थिति है।

'लन्दन की एक रात' और विदेशी पृष्ठभूमि को लेकर लिखी गयी कुछ रचनाओं को छोड़ दें तो निर्मल वर्मा की ज्यादातर कहानियों में आर्थिक तनावों से किंचित मुक्त शहरी मध्यमवर्ग के लोगों के आपसी सम्बन्धों का, सम्बन्ध–विच्छेदों का, तनावों और लगावों का चित्रण है। उनके पात्रों की दुनिया मध्यवर्गीय है। इस दुनिया में विवाह टूट जाने की कचोट लिए तपेदिक की शिकार युवती है (डायरी का खेल) जिसको घर किसी भुतहा मकान की तरह आतंकित करता है और बाहर की दुनिया जिसके लिए बन्द है। इसी तरह 'अँधेरे में' कहानी में परम्परागत बन्द समाज में टुकड़ों में बँटी स्त्री की पीड़ा भरी छटपटाहट देखने को मिलती है। 'तीसरा गवाह' की नीरजा प्रतीक्षा की हताशा और कोर्ट के माहौल से खिन्न हो, आत्मग्लानि से पीड़ित होकर वहाँ से चुपचाप चली जाती है। "अगर वह थोड़ी देर रुकती तो शायद विवाह हो सकता था, लेकिन प्रतीक्षा की पीड़ा वह सहन नहीं कर पाती और वह न सिर्फ कोर्ट बल्कि उसी रात को शहर से अपनी बीमार माँ को लेकर कहीं चली जाती है।"[5]

'पिछली गर्मियों में' एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसका प्रत्येक सदस्य पारिवारिक विघटन की त्रासदी से अभिशप्त है। 'सितम्बर की एक शाम' ऐसे व्यक्ति की भटकन की कहानी है जो अपने पिता से विवाद कर चुका है और जिसकी सूनी जिन्दगी में उसकी बहन मानवीय

सम्बन्ध की बची आखिरी डोर है। 'माया का मर्म' कहानी एक मध्यवर्गीय युवक के बेकार होने और उस स्थिति की मनःस्थिति को चित्रित करती है। कहानी का पात्र अपनी बेकारी के कारण स्वयं को भी बेकार समझने को मजबूर हो जाता है। यहाँ तक कि बेकारी से निजात पाने की किसी सोच को भी वह अपने जैसा बेकार मानने लगता है– "मेरा सोचना मेरे जैसा ही बेकार है, इसलिए आज नहीं सोचूँगा।"[6] 'धूप का एक टुकड़ा' कहानी के मध्यवर्गीय परिवार की पत्नी, अपने पति से सिर्फ इसलिए अलग हो जाती है क्योंकि उनके सम्बन्धों में अब पहले जैसी गर्मी नहीं रही।

'एक दिन का मेहमान' एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसमें पति, पत्नी और बेटी– तीनों अकेलेपन की जिन्दगी जीने को अभिशप्त हैं। पति, पत्नी और बेटी के होते हुए भी अकेला जीवन जीने को बाध्य है और जब अकेलेपन की यह पीड़ा असह्य हो जाती है तो उनसे मिलने चला आता है। यद्यपि पत्नी स्वयं कहती है कि वह अकेले नहीं रह सकती' लेकिन पति के विवाहेतर सम्बन्धों की गलतफ़हमी की वजह से साथ नहीं रहना चाहती। बेटी स्वयं को इन दोनों के बीच पिसती हुई–सी महसूस करती है, वह दोनों के साथ रहना चाहती है लेकिन माँ के अलग रहने का निर्णय उसे अकेलेपन की अभिशप्त वेदना की तरफ धकेल देता है। 'सूखा' एक ऐसी लड़की की कहानी है जो अपरिचित से व्यक्ति डॉ0 देव में अपने पिता के अस्तित्व की तलाश करती है। 'टर्मिनल' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपनी ही नियति के पाश में जकड़ा है तो 'बावली' मध्यवर्गीय परिवार के टूटन की त्रासदी को व्याख्यायित करती है।

"नहीं, नहीं, गीता को रहने दो, वह किसी काम की नहीं! गलत मत समझो। मैं हमेशा विश्वास करता आया हूँ..... लेकिन इस वक्त वह किसी काम की नहीं! हमें आखिर तक जाना चाहिए....."[8], निर्मल वर्मा की असाधारण कहानी 'बीच बहस में' का यह अंश एक बूढ़े और मरणासन्न पिता के कुछ शब्द हैं; मृत्यु शैय्या पर लेटे आदमी के कुछ रहस्योद्घाटन, पिता और पुत्र के बीच हो रही बहस के बीच बाहर आती एक मार्मिक दृष्टि। पिता अपने पुत्र से पूछ रहा है, "तुम्हारी माँ कहाँ हैं?मेरा मतलब है, इस वक्त कहाँ होंगी?सुनो, वह इस तरह मुझे छोड़कर नहीं जा सकतीं, आखिर हम मुद्दत से साथ रहे हैं।"[9] उसकी इस बूढ़ी व्यथा को सुनते हुए हमारा ध्यान बरबस ही समकालीन मध्यवर्गीय जीवन में गहराई तक धँसी उस मानसिकता की तरफ जाता है जो मृत्यु–शैया की सुविधाओं के प्रति चाहे जितनी भी जवाबदेह बनी रहे, किन्तु मृत्युशैया के रहस्योद्घाटनों के प्रति अक्सर उदासीन बनी रहती है। कहानी का मरणासन्न व्यक्ति लगातार घर लौटने की अपनी इच्छा को उजागर करता रहता है परन्तु उसकी यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती है। यह कहानी "आधुनिक समाज के उस गहरे अन्तर्विरोध को भी व्यक्त करना चाहती है जहाँ अपनी तमाम भौतिक सुविधाओं के बीच भी आदमी का अपना जीवन खोखला, गरिमाहीन और अमानवीय नजर आता है।"[10]

आधुनिक भारतीय मध्यवर्ग की इस विडम्बना का और अधिक ठोस एवं प्रामाणिक अहसास हमें 'कव्वे और काला पानी' में होता है। कहानी में एक ऐसा व्यक्ति है जो दिल्ली में अपना घर–बार, माँ–बाप सब छोड़कर पहाड़ी इलाके में संन्यासियों की तरह रहता है। उसके भाई दिल्ली में जायदाद का बँटवारा करते हैं, उस वक्त उसके हस्ताक्षर की आवश्यकता पड़ती है और छोटा भाई उससे मिलने कागजात ले पहुँचता है। वह भाई के घर एक रात भी नहीं ठहरता अपितु एक अन्जान व्यक्ति के साथ उसके घर में ठहरने पर उसे उतनी हिचक नहीं होती है, जितनी भाई के साथ रात बिताने में। यद्यपि उसे आत्मग्लानि भी होती है, तिस पर भी वह बड़े भाई के साथ सहज नहीं हो पाता। कहानी "सम्बन्धों के मध्य उभर आयी दरार की ओर इशारा"[11] करती है।

कहना न होगा, जिस मध्यवर्गीय या निम्न–मध्यवर्गीय दुनिया को प्रायः इकहरी या कमोबेश सब जगह 'एक जैसी' मान लिया जाता है, उसकी न जाने कितनी अँधेरी–उजली 'यथार्थ' और अतियथार्थ छवियाँ निर्मल वर्मा ने उकेरी हैं और विभिन्न पात्रों के अन्तर्मन में इस तरह उतारे हैं कि कई अनदेखे कोने हमारे बहुत निकट आ जाते हैं। सामान्य से सामान्य घरों के कमरे–कोठरियाँ, दरवाजे–खिड़कियाँ, सीढ़ियाँ आदि किसी कथा में न जाने कितनी और कथाएँ खोल देते हैं। ये कथाएँ "गहरी और व्याकुल अन्तर्दृष्टि के साथ हमें आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन में फैली उन अमानवीय और अन्धी इच्छाओं तथा उनके बाहर आते भयावह खोखलेपन को समझने की अनिवार्यता और अवकाश प्रदान करती हैं, जिसका अहसास बरसों पहले फ्लाबेयर, लारेन्स और गांधी जी जैसे लोगों को हुआ था और जिन्होंने अपने–अपने स्तर पर मनुष्य की सभ्यता को निगलते इस खोखलेपन से संघर्ष करने का जोखिम उठाया था।"[12]

सन्दर्भ–

1. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ0 302
2. बहुवचन, अंक 15, अप्रैल–जून 2006, सं0 प्रो0 जी0 गोपीनाथन, लेख– निर्मल वर्मा : उपन्यास और संवेदना, लेखिका– अनीता चौधरी, पृ0 119
3. वन्दना केंगरानी, निर्मल वर्मा के स्त्री विमर्श, पृ0 75
4. गगन गिल (सं0), संसार में निर्मल वर्मा, पृ0 135
5. वन्दना केंगरानी, निर्मल वर्मा के स्त्री विमर्श, पृ0 189
6. निर्मल वर्मा, परिन्दे, पृ0 27
7. निर्मल वर्मा, कव्वे और काली पानी, पृ0 210
8. निर्मल वर्मा, बीच बहस में, पृ0 217
9. वही, पृ0 126
10. अशोक वाजपेयी (सं0), निर्मल वर्मा, लेख– विकल तीर्थयात्री के साथ, लेखक– जयशंकर, पृ0 141
11. वन्दना केंगरानी, निर्मल वर्मा के स्त्री विमर्श, पृ0 154
12. अशोक वाजपेयी, (सं0), निर्मल वर्मा, लेख– विकल तीर्थयात्री के साथ, लेखक– जयशंकर, पृ0 141

●●●●

11/23/2, लाजपत राय रोड,
नया कटरा, इलाहाबाद–211002
मो0 नं0 : 09450875036

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : सरस्वती-सम्पादक के रूप में

चन्द्रप्रकाश सिंह

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक युग–निर्माता के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। उनका कार्य एक ऐसे रचनाकार का रहा है जो सामाजिक उद्देश्यों से परिचालित होता है। परम्परा के रूप में द्विवेदी जी को भारतेन्दु–युग की आरम्भिक राष्ट्रीय–चेतना अवश्य मिली थी किन्तु अधिकांश निर्माण कार्य अभी अपूर्ण था, उसे द्विवेदी जी ने पूरा किया। द्विवेदी जी को हिन्दी साहित्य का भाव जगत आधुनिक युग के संदर्भ में रखकर परिष्कृत करना पड़ा। रचनाकार का सामाजिक दायित्व उनका प्रेरणा स्रोत रहा है। अपने इस उपक्रम में उन्होंने राष्ट्रीय भावना के साथ नीति और मर्यादा का भी आग्रह किया है। स्वीकार करना होगा कि उनकी दृष्टि में आदर्श की रेखाएँ अधिक हैं। भाषा की दिशा में उन्होंने ब्रज और खड़ी बोली के द्वन्द्व को समाप्त किया और व्याकरण की दृष्टि से उसका एक प्रतिमान स्थिर किया। हिन्दी खड़ी बोली को द्विवेदी जी ने इतनी सामर्थ्य दी कि आगे चलकर उस पर छायावाद–युग की सृष्टि हो सकी। द्विवेदी जी की शक्तियाँ आधुनिक युग के लिए एक वातावरण निर्माण करने में इतनी निष्ठा और सक्रियता के साथ अग्रसर हुई कि वे स्वयं अपने रचनात्मक व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाशन–युगीन आवश्यकताओं के माध्यम से ही कर सके। उनका वास्तविक महत्त्व साहित्य के ऐसे कर्मठ व्यक्ति का है जिसने अपनी सम्पूर्ण चेतना साहित्य को एक नयी दिशा देने में लगा दी और इस दृष्टि से उनका स्थान ऐतिहासिक है। उन्हें हम निश्चय ही ऐसे व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दी का सफल नेतृत्त्व किया। वे एक साहित्यिक नेता थे।

रूप नारायण पाण्डेय लिखते हैं कि–

शिल्पी परम प्रवीण मातृ–मंदिर–निर्माता,
अभिनव–लेखन–कला–लोक के विज्ञ विधाता।
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा में ही सरस्वती की जन्म बिताया।
हिन्दी–भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि सम अस्थियां देदीं पर उपकार में।।

हिन्दी साहित्य की प्रगति, भाषा के भण्डार की श्रीवृद्धि तथा नये लेखकों को उत्साहित करने के हेतु जनवरी सन् 1900 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्र का उद्देश्य हिन्दी साहित्य की प्रत्येक धारा को विकसित करने का था। इसी दृष्टिकोण के आधार पर पत्रिका में क्या–क्या विषय होंगे–इस पर भूमिका (सरस्वती, 1900) में लिखा है– "इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवन–चरित, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कलाकौशल आदि साहित्य के विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जाएगी...।" इस सन् में इसका सम्पादन–भार बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर), बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू राधाकृष्ण दास, पं0 किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री की सम्पादक समिति ने वहन किया।

द्वितीय वर्ष 1901 ई. में 'सरस्वती' के सम्पादक केवल श्यामसुन्दर दास रह जाते हैं। 1901 और 1902 इन दो वर्षों का सम्पादन–भार इन्हीं के कर्मठ कन्धों पर रहता है। 1902 के अन्त में श्यामसुन्दर दास जी ने भी सम्पादन भार सँभालने में असमर्थता प्रकट की। उनके प्रस्ताव से 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सम्पादन भार ग्रहण किया। सरस्वती सम्पादन में द्विवेदी जी ने सम्पादन भार ग्रहण किया। सरस्वती सम्पादन में द्विवेदी जी के अपने कई आदर्श थे। 'आत्मनिवेदन' लेख (यह लेख सरस्वती 1933 पृ. 619 पर प्रकाशित हुआ था। यह द्विवेदी जी की 70वीं वर्षगाठ पर अभिनंदन–ग्रंथ–प्रदानोत्सव के अवसर पर दिया गया भाषण है) के अन्तर्गत 'मेरे आदर्श' शीर्षक में द्विवेदी जी कहते हैं– "सरस्वती के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए। मैंने संकल्प किया कि (1) वक्त की पाबन्दी करूँगा; (2) मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा; (3) अपने हानि–लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि–लाभ का सदा ख्याल रखूँगा और (4) न्याय पथ से कभी न विचलित होऊँगा।"

द्विवेदी जी ने अपने इन आदर्शों का पालन यथाशक्ति किया। उनके सत्रह वर्षों के दीर्घ सम्पादन काल में 'सरस्वती' का प्रकाशन एक बार भी नहीं रूका। उन्होंने कभी भी अवकाश–ग्रहण नहीं किया। सात वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप उन्हें उन्निद्र रोग हो गया तथा उन्होंने सरस्वती के सम्पादन कार्य से एक वर्ष का अवकाश ग्रहण किया। इनकी अनुपस्थिति में सम्पादन भार पण्डित देवी प्रसाद जी शुक्ल ने सम्भाला।

पहले बताये गये उद्देश्यों (सरस्वती के) के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अपने कई उद्देश्यों को स्थिर किया। उनकी रचनाओं का अवलोकन करने पर उनके कई उद्देश्य हमारे सम्मुख आते हैं– (1) नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना; (2) पाठकों की संख्या में अभिवृद्धि करना; (3) भाषा और व्याकरण विषयक भूलों के सुधार की ओर लेखकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना; (4) संसार की वर्त्तमान प्रगति का परिचय देना; (5) पाठकों के व्यावहारिक और साहित्यिक ज्ञान में वृद्धि करना; (6) संस्कृत और अंग्रेजी के शब्द समूहों से हिन्दी के भण्डार को भरना इत्यादि।

जुलाई, 1903 की सरस्वती में महावीर प्रसाद

द्विवेदी की 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' कविता छपी–

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं।
न सूझै है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!

× × ×

वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम;
करो मत और अपना नाम बदनाम !

द्विवेदी जी ने भाषा और व्याकरण विषयक त्रुटियों की ओर हिन्दी के लेखकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के हेतु सरस्वती 1905 और 1906 में "भाषा और व्याकरण" नामक स्व–लिखित लेख प्रकाशित किया– "... जिस भाषा में बड़े–बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान और कलाकौशल से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जाते हैं, उसका श्रृंखलाबद्ध होना जरूरी है। उसका व्याकरण बनना चाहिए।"

हिन्दी में सरस्वती से पहले, उसके साथ–साथ और उसके बाद बहुत सी पत्रिकाएँ निकलीं और निकलती रहीं पर किसी भी पत्रिका में हिन्दी लेखक अपनी रचनाएँ छपाने के लिए ऐसे आतुर और उत्सुक नहीं दिखाई दिये जैसे सरस्वती में। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने संस्मरण में लिखा है : "इस बीच कलकत्ते के वैश्योपकारक मासिक पत्र में मेरे पत्र छपने लगे थे। इससे मुझे कुछ अभिमान भी हो गया था। परन्तु हिन्दी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका सरस्वती थी। मन मेरा उधर ही लगा था।" (द्विवेदी पत्रावली, पृ. 47)। लेखकों को सरस्वती में अपनी रचनाएँ छपाने की यह उत्सुकता क्या इसलिए थी कि द्विवेदी जी उनकी भाषा का परिष्कार करेंगे?द्विवेदी जी भाषा सुधारने के अलावा और भी बहुत कुछ जोड़ते घटाते थे। पर सरस्वती के महत्त्व का कारण यह नहीं था। यदि द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित सरस्वती के पुराने अंक उठाकर किसी भी नई पुरानी पत्रिका के अंकों से मिलाये जाँय तो ज्ञात होगा कि पुराने हो चुकने पर भी इन अंकों में सीखने–समझने के लिए अन्य नवीन पत्रिकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सामग्री है। सरस्वती सबसे पहले ज्ञान की पत्रिका थी, वह हिन्दी नवजागरण का मुख्य पत्र थी, और हिन्दी भाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी। ज्ञान की पत्रिका होने के अलावा वह कलात्मक साहित्य की पत्रिका थी, ऐसे साहित्य की जो रीतिवादी रूढ़ियों का नाश करके नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप रचा जा रहा था। इसलिए उसने हिन्दी साहित्य में और उसके बाहर व्यापक स्तर पर भारतीय साहित्य में, वह प्रतिष्ठा प्राप्त की जो बीसवीं सदी में अन्य किसी पत्रिका को प्राप्त न हुई। प्रेमचंद और कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित माधुरी और निराला सम्पादित सुधा पुनः प्रेमचंद द्वारा सम्पादित हंस, अपने ढंग की विशिष्ट पत्रिकायें थीं पर सरस्वती की तरह इन्हें सर्वमान्य जातीय गौरव प्राप्त नहीं था।

द्विवेदी जी के आज्ञाकारी शिष्य मैथिलीशरण गुप्त थे। शायद ही ऐसा कोई लेखक हो जो उनसे रूष्ट न हुआ हो। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अमेरिका वाले लेख सरस्वती में प्रकाशित करवाते रहे थे। काशी प्रसाद जायसवाल के बहुत से लेख द्विवेदी जी ने सरस्वती में छापे और उनकी प्रशंसा में सम्पादकीय टिप्पणी लिखी पर उनकी निगाह में जायसवाल घमंडाचार्य भी बने। मैथिलीशरण गुप्त को 19.08.19 के पत्र में उन्होंने लिखा था : "भारत भारती की समालोचना पर बैरिस्टर साहब ने मुझ पर जो पुण्य वृष्टि की है सो आपने देखी ही होगी। न देखी हो तो भेजूँ। मुझे एक अपमान सूचक कार्ड भेजा है कि तुमने हर प्रसाद शास्त्री को 'गाली' दी। बाबू सीताराम ने नालिश भी की है। मैं चुप हूँ। न उत्तर दिया, न सरस्वती में कुछ लिखने का विचार। यह घमंडाचार्य त्रिलोक के विद्वानों को अँगूठे पर रख के घूमता है।"

कामता प्रसाद गुरु सरस्वती के प्रमुख लेखकों में थे। सरस्वती के द्विवेदी स्मृति अंक में कामता प्रसाद गुरु ने बताया कि नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी व्याकरण लिखने का काम द्विवेदी जी की सिफारिश पर सौंपा था।

सितम्बर 1914 की सरस्वती में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित हुई। यह भोजपुरी में है और सम्भवतः उस भाषा में लिखी हुई यह एकमात्र कविता है जो द्विवेदी जी की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी–

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवनओ न देखताजे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।

द्विवेदी जी की कोमलता और कठोरता, दोनों का स्रोत एक ही था। यह स्रोत था हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा। इस निष्ठा के कारण जिसे वह अवांछित समझते थे, उसकी कठोर आलोचना करते थे किन्तु इसमें व्यक्तिगत रागद्वेष बहुत कम होता था। उनकी आलोचना हिन्दी की उन्नति और विकास के भाव से प्रेरित होती थी। यही कारण है कि शायद ही कोई उनके द्वारा आलोचित व्यक्ति हो जिसने कुछ समय तक आलोचना का बुरा मानने के बाद उनके सामने सिर न झुका दिया हो।

आजकल के ढंग की आख्यायिकाओं का प्रकाशन सबसे पहले 'सरस्वती' में ही हुआ। हिन्दी की सबसे प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' सन् 1915 की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। केवल आख्यायिकाओं द्वारा ही नहीं, इतिहास, जीवन–चरित, विज्ञान, आलोचना, पुरावृत्त, शिल्प, कलाकौशल आदि सभी विषयों से विभूषित होकर द्विवेदी जी के द्वारा सरस्वती का प्रकाशत होता रहा। इस अकेली हिन्दी पत्रिका ने हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए जितना कार्य किया है, उतना एक संस्था भी क्या कर सकेगी?

'साहित्य संदेश' में श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर लिखते हैं, "ईंट, पत्थर, चूना, लोहा–लक्कड़ सबका एक ढेर और उन्हीं पदार्थों से बनाया हुआ एक सुन्दर मंदिर; इनमें अंतर है। ईंट बनाने वाले संगतराश, लुहार, बढ़ई सबने अपनी–अपनी कला दिखा दी, पर वह ढेर–का–ढेर ही रह गया–मंदिर न हुआ। यह काम मेमार का है।

सम्पादक भी ऐसा ही एक मेमार है।'' द्विवेदी जी ने हमेशा पाठकों की सुरूचि का ध्यान रखा है। उन्होंने कभी भी अपने हानि लाभ की परवाह नहीं की। सरस्वती उस समय अन्य पत्रिकाओं की रानी ही नहीं अपितु पाठकों की सेविका भी थी। उस समय उसमें कुछ छपाना या किसी के जीवनचरित आदि को प्रकाशित कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। ऐसी अवस्था में द्विवेदी जी से कोई कहता– ''मेरी मौसा का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता–अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो; मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा...। परन्तु ये प्रलोभन द्विवेदी जी को उनके आदर्शों के प्रतिकूल कार्य न करा सके।''

'सरस्वती' द्विवेदी जी के हाथों में जिस दिन से आई, उसके रूप में श्रीवृद्धि हुई। विविध विषयों से उसका श्रृंगार होने लगा। विषयों की अनेक–रूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक–परीक्षा, चित्रों, चित्र–परिचय, साहित्य–समाचार के व्यंग्य–चित्रों, मनोरंजक सामग्री, बाल–वनितापयोगी रचनाओं, प्रारम्भिक विषय–सूची, प्रूफ संशोधन और पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही सम्पादन–कला–विशारद, द्विवेदी जी का व्यक्तित्व चमक उठा। विज्ञान के नए अविष्कार, विदेशों की हलचल, महत्त्वपूर्ण जीवन–चरित्र, इतिहास, दर्शन सभी विषयों पर 'सरस्वती' में लेख और रचनाएँ छपने लगीं। द्विवेदी जी पाठकों की रूचि की विविधता से भलीभाँति परिचित थे। अतः 'सरस्वती' के माध्यम से वह विविध विषयों की सामग्री देने का प्रयास करते थे। साथ ही उन्होंने युग को आदर्श दिया। भारतीय संस्कृति, अतीत गौरव, उसकी नव–व्याख्या, उसमें समयोपयोगी परिवर्तन, नारी जाति के प्रति सम्मान–भावना, महत्त्वपूर्ण और अनुसरणीय व्यक्तियों के जीवन–चरित्र, ज्ञान–विज्ञान का परिचय, इतिहास और भूगोल का ज्ञान, विश्व–व्यापी परिवर्तनों की जानकारी, वर्तमान के प्रति आस्था आदि महत्त्वपूर्ण विषय पाठक–समाज को देकर उनकी ज्ञान–परिधि का विस्तार किया। वे मनोरंजक श्लोक के द्वारा पाठक का मनोरंजन भी करते थे, विविध विषयों के द्वारा उसके ज्ञान को व्यापक बनाते समय 'साहित्य–समाचार' के द्वारा उसे साहित्य की गतिविधि से परिचित कराते। हिन्दी–पाठकों की असंस्कृत रूचि को तृप्त करने का प्रयास न करके उन्होंने उसके परिष्कार का ही उद्योग किया।

'सरस्वती' के सम्पादन के द्वारा आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी–भाषा को परिष्कृत, मंजुल और शुद्ध रूप दिया; हिन्दी साहित्य को आदर्श दिया, नीति दी; हिन्दी पाठकों को ज्ञान दिया तथा आनन्द दिया; हिन्दी को निर्माणकारी लेखक दिए और स्वयं भी निरंतर विविध विषयों पर लिखा। आज उनकी 80–81 पुस्तकों के नाम मिलते हैं। कुछ की रचना 1903 ई. सन् सरस्वती का सम्पादन ग्रहण करने से पूर्व ही हो चुकी थी, पर अधिकांश निबंध, कहानियाँ, जीवन–चरित और कविताएँ 1903 के बाद की हैं। प्रारम्भिक कविताओं में खड़ी बोली के प्रति उनका आकर्षण नहीं प्रकट होता, वे तब ब्रजभाषा को ही सम्भवतः हिन्दी काव्य की भाषा मानते थे। पर शीघ्र ही वे खड़ीबोली की ओर आकृष्ट हुए। निश्चय ही, द्विवेदी जी द्वारा किया गया भाषा–संस्कार–विषयक कार्य बड़ा ही अनूठा, ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण है। डॉ. उदयभानु सिंह ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में लिखा है ''द्विवेदी जी ने चार प्रकार से भाषा–सुधार करके खड़ीबोली के परिष्कृत और परिमार्जित रूप की प्रतिष्ठा की। उन्होंने दूसरों के दोषों की तीव्र आलोचना की, सम्पादक–पद से 'सरस्वती' के लेखकों की रचनाओं का संशोधन किया और कराया, अपने पत्रों, सम्भाषणों, भूमिकाओं और सम्पादकीय निवेदनों द्वारा कवियों और लेखकों को उनके दोषों के प्रति सावधान किया और साहित्यकारों के ग्रंथों की भाषा का भी समय–समय पर संशोधन किया।''

हिन्दी लेखकों से द्विवेदी जी के स्नेह और समानता वाले व्यवहार का स्मरण करते हुए निराला ने लिखा– ''वह इतने बड़े होकर भी हमसे कितने प्यार से बोलते हैं। वह इतने ऊँचे होकर भी हम तुच्छ साहित्य सेवियों से किस स्नेह से मिलते हैं। यह उनकी उदारता है– बड़प्पन है। वह हमें पथभ्रष्ट होते देख चुमकारकर, बड़े मधुर शब्दों में, चेतावनी देते हैं– कभी रौद्र रूप धारण कर झिड़की नहीं देते।''

उनके युग–विधायक रूप के बारे में निराला ने लिखा है, ''वह आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं, विधाता हैं, सर्वस्व हैं। वह राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं– वह सचमुच आचार्य हैं। आधुनिक हिन्दी की उन्नति और विकास का अधिकांश श्रेय उन्हीं आचार्य को है।''

मंदिर की सरस्वती–प्रतिमा जिस प्रकार वरदा है, उसी प्रकार द्विवेदी जी की 'सरस्वती' भी विद्यादायिनी और ज्ञानवर्द्धिनी है। लोक–कल्याण उसका लक्ष्य रहा और वही उसने किया। 'हिन्दी–साहित्य' वह माध्यम बना जिसके द्वारा 'सरस्वती' का साध्य अभिव्यक्त हुआ। अतः माध्यम भी गौरवान्वित हुआ। निस्संदेह द्विवेदी जी की 'सरस्वती' हिन्दी–साहित्य की गरिमा है, महिमा है।

सन्दर्भ–

1. शर्मा, रामविलास : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. तालवार, निर्मल : आचार्य द्विवेदी जी, साहित्य–प्रतिष्ठान, आगरा।
3. झा, शैब्या : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, अनुपम प्रकाशन, पटना।
4. मिश्र, संकठा प्रसाद : समीक्षक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, अनुभूति प्रकाशन, कानपुर।
5. सिंह, उदयभानु : महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग।

••••

*शोध–छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संवेदना का स्वरूप और भवानी प्रसाद मिश्र

श्रीमोहन सिंह*

भवानी प्रसाद मिश्र समकालीन कवियों से पृथक् विशिष्ट शैली के कवि हैं। इन्होंने नई कविता को नया आयाम देकर लाकप्रिय, लोक संवेदक एवं लोक यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित किया है। नई कविता के अन्य कवियों की अभिव्यक्ति जहाँ दुरूह एवं सामाजिक भावना से अलग दिखती है, वहीं भवानी प्रसाद मिश्र की कविता सरल एवं लोक मनोभावों का सजीव प्रतिबिंब है। नयी कविता में इनकी काव्य संवदेना एक विशिष्ट पहचान रखती है। इन्होंने सभी भावों को सरल, बोधगम्य एवं तथ्यपरक बनाकर संप्रेषणीयता की अनोखी शैली के माध्यम से अपने को और अपनी कविता को जनमानस के अत्यन्त करीब लाने का सफल प्रयास किया है। ग्रामीण परिवेश में रहकर उन्होंने वहाँ की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दशा को भलीभाँति समझा जिन्हें बड़ी संवेदनशीलता के साथ एवं सहेजकरअपनी विभिन्न कविताओं के माध्यम से मुखरित किया है।

भवानी प्रसाद मिश्र लोकमंगल की चेतना एवं संवेदनात्मक भावना के कारण लोकप्रिय कवि हुए। इन्होंने लोकजीवन, स्वदेशी विचारधारा, गाँधीदर्शन, सौन्दर्य बोध, प्रकृति चित्रण, आर्थिक–सामाजिक एवं राजनीतिक दशा तथा परिवर्तन की अभिलाषा आदि को अपनी कविता में उकेरने का प्रभावकारी उपाय किया है। वे जीवन की यथार्थता को स्वीकारते हुए परिवर्तन के पक्षधर रहे हैं। इनके अनुसार परिवर्तन की निरंतरता से ही भारत की नई तस्वीर उभरेगी।

"वे अपने ही पैरों पर आज जो खड़े रहे
तो पूँजी के चेहरे का रंग उड़ जायेगा।
भारत में अनोखा एक मेला जुड़ जायेगा।"[1]

परन्तु परिवर्तन की बयार में सांस्कृतिक मूल्यों में ह्रास और उसके स्थान पर नवीन संस्कृति का विकास कवि को सालता है–

"पाँवों की बात सुनते ही ख्याल आ गया गाँवों की ओर
भटक गया मन कि
ये ज्ञान भवन विज्ञान भवन
उनके किस मर्ज की दवा है।"[2]

कवि ने अपने काव्य में परम्पराओं को तोड़ने पर सुख का अनुभव किया है क्योंकि वे यह अनुभव करते हैं कि इसमें मुक्ति का मधुर संदेश छुपा है। इससे उनका हृदय उल्लसित एवं आश्वस्त है। वे इस बात पर बल देते हैं कि अनुभूति की सच्चाई कविता की पहली शर्त है। इस संबंध में उनका विचार है कि कविता का धरातल सामाजिक परिवेश से आबद्ध हो तथा उसकी भाषा सहज, सरल और स्पष्ट हो। उनकी अवधारणा है कि भावों के संप्रेषण के लिए तथ्य आवश्यक है। कवि ने अपनी काव्यात्मक संवेदना निम्नवत् प्रकट की है–

"जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी हसमे बड़ा तू दिख
,चीज ऐसी है कि जिसका स्वाद सिर चढ़ जाय
बीज ऐसा बो कि जिसकी बेल बन बढ़ जाय।"

मिश्र जी की कविता को समझने और सहज लिखने की प्रेरणा माखनलाल चतुर्वेदी जी से प्राप्त हुई। चतुर्वेदी जी ने मिश्र जी से कहा था– "तुम्हारा आसान लिखना छूट न जाय, इसकी सावधानी रखना किन्तु यह भी ध्यान रखना कि आसान लिखना ध्येय नहीं है, भीतर से भीतर की बात और वह इस तरह की वह सूत्र हो न भाष्य। जो मन में समा न सके उसे वाणी तक लाओ किन्तु जबांदराजी मत करो। कलम को जीभ मत देना। लिखने और बोलने का अन्तर संभाल कर रखना।"[3]

भवानी प्रसाद मिश्र का लोक–साहित्य इतना स्वच्छंद है कि उसमें व्यर्थ की खींचतान को स्थान नहीं मिलता है। उनकी भाषा का विचारों के साथ वही संबंध है जो शरीर की आत्मा से। शब्दों के वैचित्र्य–वैविध्य से हमें उनकी संवेदना–क्षमता का यथार्थ दिखलाई देता है। "बुनी हुई रस्सी" की भूमिका में वे कहते हैं– "अपने को अभिव्यक्त करने के साधनों में मुझे शब्द अपने लिए सहज प्राप्त साधन लगता था।" वे कहते हैं–

"मुझे अनुवाद करना पड़ रहा है इन दिनों शब्दों का
नहीं रूपों का अनाघ्रता गंधों का, अनुभूत छंदों का
अनदेखे आलोकों का, अनचाहे अंधकूपों का।"[4]

समाज के प्रति संवेदनशीलता : भवानी प्रसाद मिश्र का संपूर्ण काव्य समाज को ही मुख्य लक्ष्य बनाकर लिखा गया है। व्यक्ति की समस्याएं, समुदाय की समस्याएं, राष्ट्र की समस्याएं– सभी ने मिश्र जी को उद्वेलित किया है। इनकी कविता सभी के प्रति समान रूप से सजग रही है। कवि ने समाज के दोनों पहलुओं–ग्रामीण ओर नगरीय पर समान रूप से लिखा है। इन्होंने ग्रामीण किसानों एवं मजदूरों के कठिन जीवन को अपने काव्य में चित्रित किया है। भारत की कुल आबादी का सत्तर प्रतिशत ग्रामीण लोगों का जीवन स्तर काफी नीचे चला गया है। निरन्तर दिन–रात कठिनाईयों के बीच जूझते किसानों का भला नहीं हो पाता है। परम्परागत तरीके से खेती करने की लाचारी, सुविधाओं का अभाव, करों का बोझ आदि से ग्रामीणों का जीवन जटिल हो गया है। उनके इस यथार्थ जीवन ने कवि की संवेदना को झकझोर कर रख दिया है जिसे कवि ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है–

"गाँव इसमें झोपड़ी है घर नहीं है
झोपड़ी के पटकियाँ हैं, पर नहीं है
धूल उड़ती है धुएँ से दम घुटा है
मानवों के हाथ से मानव लुटा है
रो रहे हैं शिशु कि माँ चक्की लिए है
पेट पापी के लिए पक्का किए है फट रही छाती।"[5]

सम्पूर्ण संसार का भरण–पोषण करने वाले किसानों

का स्वयं का जीवन किना कष्टमय है, दिन–रात के परिश्रम के बाद सुख से जीवनयापन का अवसर नहीं है–

"वे दिन उगे से दिन डूबे तक व्यस्त सदा
वे वर्षा जाड़ा घाम भूख से त्रस्त सदा
वे बैल बखरी बोनी कटनी में लगे हुए हैं।"[6]

गाँव के उपरान्त नगर और नगर की समस्याओं पर भी उनकी लेखनी चली है। कवि नगरीय वातावरण में रहकर वहाँ की समस्याओं से रू–ब–रू हुए। नगर में पिसता निम्न एवं मध्यम वर्ग, बढ़ती नौकरशाही, भ्रष्टाचार, मजदूरों का घटिया जीवनस्तर और उनका शोषण आदि ने मिश्र जी को पीड़ित किया है। नगर की विसंगतियों और विडम्बनाओं के प्रति इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति दी है। हर तरफ बेकारी का साम्राज्य फैला है। काम की खोज में भटकते व्यक्तियों का शब्द–चित्र "व्यवस्थाएँ" कविता में मार्मिक ढंग से दर्शाया गया है–

"अनगिनत लोक जगत्भर में हैरान हजारों ढंग से हैं
अनगिनत यों हैरान कि कोई काम नहीं
हर रोज सवेरे काम ढूँढने जाते।
और काम नहीं मिलता गोया वह ईश्वर है।"[7]

गाँधी दर्शन एवं सर्वोदयी स्वरुप : अहिंसा परमों धर्मः" का पाठ पढ़ानेवाले, "सर्वोदय" के सबल पक्षधर सत्य के पुजारी कहे जाने वाले गाँधी जी का दर्शन भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में पर्याप्त व्याप्त मिलता है।

"मिश्र जी अहिंसा के उपासक रहे। वे हिंसा का विरोध इन शब्दों में करते हैं– "हिंसा की प्रशंसा करना उसे आदर्श की तरह पेश करना, एक खण्ड सत्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न है। ऐसा प्रयत्न मानव जाति को विकास के पथ से विरत करता है।"[8]

हिंसा की प्रवृत्ति के कारण चारों ओर अशांति एवं असुरक्षा का वातावरण बनता जा रहा है। मानव डर के साये में रहने को विवश है। हिंसा का वातावरण बनाने वाला मानव पशु बन गया है। इससे गाँधीवादी कवि मिश्र जी के सरल हृदय पीड़ा से भर उठता है–

"खून के कितने गुच्छे अंगूर
लटका देते हो तुम
सवेर
किस मुंह से कोई तुम्हें
टेरे
ओ पहले दिन से
आजतक के सूरज।"[9]

मिश्रजी के अनुसार गाँधी जी की सर्वोदयी भावना तभी सफल होगी जब देश के हिन्दू–मुसलमान, दोनों के बीच संबंधों में मृदुलता बनी रहेगी। कवि भी गाँधी जी की तरह हिन्दू मुसलमान में कोई भेद नहीं मानते। दोनों एक ही देश के निवासी हैं। देश का आकार हिन्दू और मुस्लिम दोनों के सम्मिलन से बन पाता है। इस मंत्र का यदि पालन देश में होता है तो हमारा देश हमारे लिए ही नहीं वरन् संपूर्ण संसार के लिए आदर्श उदाहरण होगा–

"हिन्दू मुसलमान मिलकर खड़े रहें
तो देश अपना सिद्ध यह करेगा जग में
बिना रक्तपात किए होता है पूरा कैसे
समता का स्वतंत्रता का बंधुता का सपना।"[10]

इस प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र का गाँधीवाद एवं सर्वोदयी भावना मानव समुदाय के लिए प्रेरणादायक है। अपनी कविता में इस संवेदना को पिरोकर इन्होंने मानव कल्याण की अपनी भावना का संदेश दिया है।

साहित्यिक संवेदना : साहित्य व्यापक अर्थ रखने वाला एक महान् गौरवपूर्ण शब्द है। यह जगत् और जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह विश्वजनीन भाव का द्योतक है। समाज की आन्तरिक दशा का दिव्य दर्पण है। सभ्यता और संस्कृति का रक्षक है। किसी देश, राज्य या समाज के बारे भलीभाँति जानना हो तो उस काल के साहित्य से बहुत कुछ मिल सकता है। मिश्र जी ने आधुनिक साहित्य को आकर्षक और लोकप्रिय बनाया है। इन्होंने साहित्य को मानवीय संवेदना से जोड़कर गतिशील एवं विकासशील बनाने का प्रयास किया है। उनके साहित्य की अपनी विशिष्ट पहचान है जो पढ़ने–सुनने से पहचानी और जानी जा सकती है। इसलिए मिश्रजी को लोकजीवन का कवि और उनके साहित्य को प्रकृति और मानव के सहज जीवन का लोक साहित्य कहा गया है। कवि की लोकचेतना मूलतः उनकी विश्व–चेतना को इंगित करती है–

"हर तरह के लोग इसमें तपें
तू बैठा रहेगा
हाय, इतना सुख
जलन के बीच में
कैसे सहेगा?
क्या अपाहिज हो न जायेगी,
सनातन सत्यवाणी
क्या नये युग पर न जम जाएगी
तेरी नातावानी।"[11]

इस प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में साहित्यिक संवेदना की अभिव्यक्ति आदर्श रूप में चित्रित हुई है जो मानवीय मूल्यों की मर्यादा से संपृक्त भी है।

सन्दर्भ–

1. गाँधी पंचशती– स्वातन्त्र्य, पृ0 154
2. चकित है दुःख–उठो, पृ0 23
3. जिन्होंने मुझे रचा– भवानी प्रसाद मिश्र, पृ0 38–39
4. गाँधी पंचशती– भवानी प्रसाद मिश्र, पृ0 422
5. गाँधी पंचशती– गाँव, पृ0 24
6. गाँधी पंचशती– प्रार्थना पत्र, पृ0 199
7. गाँधी पंचशती– व्यवस्थाएं, पृ0 161
8. भवानी प्रसाद मिश्र और उनका काव्य, पृ0 72
9. त्रिकाल संध्या– किस मुँह से, पृ0 34
10. गाँधी पंचशती– कुछ बातें करें, पृ0 58
11. गीत फरोश, पृ0 179

••••

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
राँची विश्वविद्यालय

उदात्त की अवधारणा और प्रसाद की कहानियाँ

(विशेष संदर्भ-गुण्डा, आकाशदीप, छोटा-जादूगर)

अमरेन्द्र कुमार पाण्डेय*

उदात्त की परिभाषा को लेकर लोंगिनुस का कथन है– "उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।"[1] डॉ. जगदीश पाण्डेय ने भी उदात्त को परिभाषित किया है– "जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है, वह उदात्त कहलाता है।"[2] मानक हिन्दी कोश ग्रन्थों के अनुसार, उदात्त का सामान्य अर्थ दयालु, त्यागी, दाता, हृदय को छूने वाला, उदार, उत्तम, श्रेष्ठ, सशक्त एवं समर्थ आदि है।[3] डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– "उदात्त के विवेचन में मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं। 'विभाव–रूप में उदात्त से अभिप्राय ऐसे विषय का है जो अनन्त विस्तार, असाधारण शक्ति एवं वेग, अलौकिक ऐश्वर्य तथा उत्कट से तात्पर्य उल्लास, विस्मय, सम्भ्रम आदि संचारियों से पुष्ट, आत्मा का उत्कर्ष करने वाली ऐसी प्रबल अनुभूति का है जो सम्पूर्ण चेतना को अभिभूत कर ले। शैली के रूप में उदात्त के आधार तत्व हैं– उपर्युक्त एवं प्रभावक शब्दों से युक्त उत्कृष्ट भाषा, गरिमामयी रचना–विधान, भव्य योजना और प्रायः अतिशय मूलक अलंकारों की योजना जिन पर औचित्य का अनुशासन अनिवार्यतः रचना चाहिए।"[4]

भारतीय साहित्य में उदात्त की परम्परा काफी समृद्ध है। जैसे निराला के 'तुलसीदास' प्रसाद के 'कामायनी' और तुलसीदास का 'मानस' तो औदात्य वर्णन की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति बन गई। हिन्दी की साहित्यिक परम्परा में प्रसाद की कहानियों को आधार बनाकर उदात्त की अभिव्यंजना एक नवीन प्रयोग है। हालाँकि डॉ. विद्यावती द्विवेदी ने 'प्रसाद साहित्य में उदात्त–तत्व' नामक अपनी किताब में इनकी चर्चा की है, किन्तु उदात्त के बहिरंग पक्ष की इस किताब में कमी दिखाई पड़ती है, उसी को लेकर इस अवधारणात्मक लेख को पूर्ण करने की कोशिश है। प्रसाद की तीन कहानियों को आधार बनाकर उदात्त के तत्वों को खोजने का प्रयास किया गया है। 'आकाशदीप', 'गुण्डा' और 'छोटा जादूगर' कहानी अपने कथ्य को लेकर हिन्दी साहित्य जगत् में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

प्रेम हमेशा से उदात्त की भावभूमि के लिए उत्तम विषय वस्तु रहा है। ऐसे में 'आकाशदीप' कहानी में प्रणय औदात्य का स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ता है, किन्तु द्वन्द्वमय स्थिति में। डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने कहा है कि– "कहानी की पराकाष्ठा उदात्तता (सब्लिमिटी) में होती है। एक ओर चंपा की घृणा तथा प्रेम, दोनों ध्रुवांतों की तृष्णाकिन बुझ जाती है तो दूसरी ओर अपने एकपक्षीय प्रेमोद्वेलन को बुधगुप्त विराम देकर स्थितप्रज्ञ–सा हो जाता है। दोनों की परिणिति उदात्त एवं भव्य मनोस्तब्धता में होती है।"[5]

उपर्युक्त पाँच स्रोतों के मूल में लोंगिनुस ने महान् आत्मा पर बल दिया है। उन्होंने कहा है– "औदात्य महान् आत्मा की सच्ची प्रतिध्वनि है।"[6] लोंगिनुस ने 'महान् और पुष्ट विचारों के धारण की क्षमता' को सर्वोपरि महत्व दिया है। 'आकाशदीप' कहानी की चंपा में विचार इस प्रकार भरे पड़े हैं कि जिससे पाठक उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। कहानी में चंपा का त्याग, अपने प्रेम को उदात्त भावभूमि में पहुँचाना और दूसरों के सेवा के लिए अपने निजी रिश्तों की बलि इसी उदात्त की कोटि में आता है। जिसका सुन्दर उदाहरण चंपा में मौजूद है। डॉ. विद्यावती ने कहा है कि– "चंपा का चरित्र 'आकाशदीप' की भाँति भटके जनों को राह दिखाने वाला है। उसका नाम भी सार्थक है। चंपा शब्द के साथ ही एक बिम्ब उभरता है चम्पा नामक एक पुष्प है जो अपने वर्ण, कान्ति, दीप्ति, मसृणत्रा और सुगन्ध से बरबस आकृष्ट कर लेता है।"[7] इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि चंपा का व्यक्तित्व उच्चकोटि का है, अतः यह चरित्र उदात्त है।

प्रसाद ने चंपा में त्याग, प्रेम, शील, आचरण जैसे गुणों को उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बनाकर उदात्त का सुन्दर नमूनापेश किया है। प्रसाद ने चरित्र विशेष को विविध परिस्थितियों में रखकर उनका विभिन्नकोणों से परीक्षण किया है। जब चंपा अपने प्रेमी को सिर्फ इसलिए स्वीकार नहीं करती है कि वे इसके पिता का हत्यारा है तो प्रसाद के कहानी की कलात्मकता इन परिस्थितियों में और निखर कर सामने आती है, जहां द्वन्द्व में से ही एक निर्णय करना होता है इस निर्णय में चंपा सफल रहती है। वीरता एवं उत्साह भी उदात्त चरित्र के लिए जरूरी होता है, जिसका स्पष्ट प्रमाण चंपा है। डॉ. विद्यावती द्विवेदी के इस कथन से प्रमाणित होता है कि– "इसके बुद्धि–चातुर्य साहसिकता और परिस्थिति विशेष से लाभ उठाने की भावना का ज्ञान प्रथम दर्शन में ही हो जाता है जब वह स्वयं के साथ–साथ जलदस्यु बुद्धगुप्त को भी बन्धन मुक्त कराती है।"[8]

"लोंगिनुस की विवेचन–पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है द्वन्द्वात्मक।"[9] प्रसाद जी ने आकाशदीप कहानी में यह भावद्वन्द्व उत्कृष्ट रूप से उभारा है, वो भी चंपा के मन में। इस द्वन्द्वात्मकता का स्पष्ट प्रमाण इस कथन में मिल जाता है– "विश्वास? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।"[10] यह चंपा का भावद्वन्द्व है, यही प्रसाद की कहानी कला का उत्कृष्ट रूप भी है। जो आद्यन्त अपने कथ्य में इसे समेटे हुए है। अतः प्रसाद की इस कहानी में उदात्त की सशक्त अभिव्यक्ति मिल जाती है।

वहीं प्रसाद की कहानी 'छोटा जादूगर' में चौदह वर्ष का बालक अपने उत्कृष्ट विचारों और अपने कर्तव्यों से उदात्त चरित्र तो है ही, वहीं यह बालक अभाव में भी जीवन जीने के बावजूद अपने स्वाभिमान के साथ समझौता नहीं करता है और अपने इस गुण के कारण वह भीड़ में भी आकर्षण का केन्द्र बना रहता है। इतना छोटा बच्चा यह जानता है कि उसका

कर्त्तव्य अब खेलना नहीं, अपने माँ और मातृभूमि की रक्षा करना है। उसका त्याग, ममत्व उसके बचपन की यादों को छीनलेता है, जिससे यह बालक समय से पहले ही गंभीर हो जाता है और जो उम्र अभी खेलने की है, उसके कंधे पर जिम्मेदारियों का बोझ लद जाता है, किन्तु बालक उसके तले दबता नहीं, बल्कि उसे सहर्ष स्वीकार करता है, कितना मार्मिक चरित्र है यह 'छोटा जादूगर। यह कथन उल्लेखनीय है– "हाँ, मैं सच कहता हूँ बाबू जी! माँ जी बीमार हैं; इसलिए मैं नहीं गया।" "कहाँ"? जेल में! जब कुछ लोग खेल–तमाशा देखते ही हैं, तो मैं क्यों न दिखाकर माँ की दवा करूँ और अपना पेट भरूँ।"[11]

प्रसाद की यह कहानी संवेदना का अद्भुत भाव जगा देती है, जहाँ माता और राष्ट्रीय प्रेम के सिवाय कोई भाव प्रबल नहीं, यह आज प्रासंगिक है। जब हम अपनी माताओं को वृद्धा–आश्रम में छोड़ने के लिए मजबूर हो रहें हैं। विवशताओं में रहने के बाद भी दान, प्रतिदान वह नहीं चाहता, उसे अपना पारिश्रमिक स्वयं कमाया हुआ धन चाहिए, दया–भिक्षा नहीं। जब वह कहता है– "मुझे शरबत न पिलाकर आपने मेरा खेल देखकर मुझे कुछ दे दिया होता तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती।"[12] अभाव ने उस बालक को जादूगर ही नहीं बनाया बल्कि धीर, संयत और गंभीर जीवन जीने के लिए विवश भी कर दिया उसे। जब वह अविचिलित भाव से कहता है– "माँ ने कहा है कि आज तुरन्त चले आना। मेरी घड़ी समीप है।"[13] उपर्युक्त कथन के माध्यम से कौन नहीं कह सकता कि प्रसाद के कहानी का मार्मिक बिन्दु एवं उत्कृष्टता रूपों में ऊभर कर यहाँ पर आ जाता है। जिससे छोटा–जादूगर का चरित्र औदात्य की अभिव्यंजना करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। 'छोटा–जादूगर' का नन्हा बालक अपने इस अविचल संघर्ष से लड़ते हुए अपनी माँ की स्थिति पर सोचता है जिससे प्रसाद का यह पात्र भी उदात्त कोटि तक पहुँच गया है। गजब का आत्मविश्वास एवं संघर्षों से लड़ने की ताकत इस बच्चे में भरी हुई है, जो आज समाज में मौजूद इस उम्र के बच्चे में ऐसी संवेदना का अभाव दिखाई पड़ता है। चाहे वह माँ के प्रति श्रद्धा का भाव हो, या अपना कैरियर, सम्मान, स्वाभिमान को लेकर सजगता आज नहीं देखने को मिलती है। माँ इस संसार की प्रकृति के सबसे खूबसूरत एहसास में से एक है। बालक को अपनी माँ के प्रति स्नेह से ही साहस एवं बल मिलता है, किन्तु इस कहानी में आए माँ का विछोह पाठक को झकझोर कर रख देता है, तभी तो कहानी में आए पुरुष भी बालक के भाव–संसार से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। उसी के शब्दों में "कुछ ही मिनटों में मैं झोपड़े के पास पहुँचा। जादूगर दौड़कर झोपड़ें में माँ–माँ पुकारते हुए घुसा। मैं भी पीछे था; किन्तु स्त्री के मुँह से, बे... निकलकर रह गया। उसके दुर्बल हाथ उठकर गिर गए। जादूगर उससे लिपटा रो रहा था, मैं स्तब्ध था।"[14]

प्रसाद के कहानियों की विशेषता है उदात्त पात्र की प्रस्तुति। उनकी उदात्त की अवधारणा ऊपर से नहीं उतरती है, बल्कि संघर्षों, समाज के निम्न वर्ग, अभावों में जीवन–यापन करने वाले एकदम निम्न कोटि के लोगों में सें आदर्श, त्याग एवं कर्त्तव्य पालन के स्तर पर ऊपर उठा देते हैं, कि वे समाज के सामने नायक के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण 'गुण्डा' कहानी का 'नन्हकू सिंह' ही क्यों न हो। यह पात्र समाज में हमेशा, पतित माना जाता है, किन्तु सिद्धान्तों और आदर्शों के पालन में 'गुण्डा' कहानी के इस पात्र का कोई तोड़ नहीं है। तभी तो डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने कहा है– "वह धीर और संयमी है।"[15] हालाँकि मेघ का यह कथन चंपा के लिए है, जिसमें धीर और संयम का सामंजस्य है, किन्तु मेघ के कथन से प्रसाद के पात्रों का चित्रण स्पष्ट हो जाता है।

प्रसाद ने अपनी इस कहानी में गुण्डा को नवीन अर्थ दिया है, जो एकदम विपरीत ठहरता है। नन्हकू सिंह के त्याग से उनके लिए प्रयुक्त गुण्डा शब्द सही नहीं लगता, बल्कि आत्मपरित्याग का बोध अधिक होता है। नन्हकू सिंह गुण्डा तो था किन्तु यह नाम मात्र का गुण्डा था उसके कार्य समाज आदर्श व्यक्ति की भांति थे, वो कुलीन परिवार का तो था ही। दरअसल वह एक मानसिक चोट से घायल हो गया था, और वह मानसिक चोट दुर्घटना से नहीं वरन् प्रेम में असफल होने से मिली थी। वह बलवन्त सिंह की पत्नी पन्ना से प्रेम करता था। पन्ना भी उससे प्रेम करती थी। 'नन्हकू सिंह' को प्रेम में मिली असफलता, अपनी अभिलाषा की पूर्ति न कर पाना, उन्हें कहीं–न–कहीं अन्दर से तोड़ने के बजाय, मर्यादित जीवन के लिए प्रेरित करती रही है।

उपर्युक्त मर्यादित जीवन जीने के कारण ही अपने प्रेम को अपने मन में बचाये हुए थे, उनके प्रेम में कहीं भी रीतिकालीन उछल–कूद, तड़प, वियोग की पीड़ा नहीं दिखाई पड़ती है, वरन् अपने प्रेम के उदात्तम् रूप से उन्हें शक्ति ही मिलती है, और यही शक्ति उनके जीवन जीने की ताकत बन जाती है। नन्हकू सिंह के उदात्त चरित्र की झलक इस कथन से स्पष्ट है– "यह झूठ है। बाबू साहब ऐसा तो धर्मात्मा कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढकती हैं, कितनी लड़कियों की व्याह–शादी होती है, कितने सताये हुए लोगों की रक्षा उनके द्वारा रक्षा होती है।"[16] किन्तु पन्ना को विश्वास नहीं होता है वह कह उठती है– "दुलारी वे तुम्हारे यहाँ आते हैं न। इसी से तू उनकी बड़ाई.....। "नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकू सिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर भी नहीं रखा।"[17]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नन्हकू सिंह के प्रति दुलारी की यह भावना एक उदात्त पुरुष के त्याग, कर्तव्य, प्रणय–भावना को मुखरित करती है। ऐसा लगता है कि नन्हकू सिंह प्रेम के लिए निःस्वार्थ रूप से बलिबेदी पर चढ़ने को तैयार है, और अपने प्रेमरूपी मंदिर का स्वयं ही पुजारी है, जिसके सहायतार्थ हेतु यह पुजारी अपने जीवन को समर्पित कर दिया है।

डॉ. नरेन्द्र का यह कथन उद्धृत करना प्रसाद के इन कहानियों के लिए सटीक बैठता है– "वास्तव में महान् रचना वही है जो बार–बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे। जिससे प्रभावित होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाए, जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे। साधारणतया औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ

और सच्चा मानना चाहिए, जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सके।"[18]

डॉ. हरदयाल का यह कहना डॉ. नगेन्द्र के कथनों को और अधिक स्पष्ट कर देता है, वे भी प्रसाद की कहानियों के सन्दर्भ में– "'आकाशदीप' जैसी कहानियाँ कभी पुरानी नहीं पड़तीं।"[19] प्रसाद के कहानियों में आए उदात्त चिंतन उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का ही द्योतक अधिक लगता है, किन्तु साथ में ये भी कहना उचित है कि प्रसाद ने अपनी कहानियों में महत् विचार के ही स्तर पर उदात्त की चर्चा नहीं की है, वरन् विपरीत एवं संघर्षों से लड़ने की ताकत भी अपने पात्रों को प्रदान की है, जिससे उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है। चाहे वह 'गुण्डा' कहानी का पात्र हो या 'आकाशदीप' की चंपा। चंपा के लिए देश प्रेम एवं पुरुष प्रेम उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि सेवा एवं सहानुभूति महत्वपूर्ण है। 'छोटा जादूगर' की तीव्र संवेदना–भावना को झकझोर कर रख देती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने चंपा के माध्यम से मानवतावादी दृष्टि एवं छोटे जादूगर के माध्यम से मनुष्य जीवन की विवशता को यथार्थ धरातल पर अंकित कराया है। डॉ. नगेन्द्र ने कहा है कि– "यह तो तुम जानते ही हो कि जो बात मनुष्य के संबंध में सही है, वही उदात्त के विषय में भी है।"[20]

उदात्त की अभिव्यंजना में अलंकारों का समुचित प्रयोग भी आवश्यक है, अलंकार की सफलता औचित्य एवं सहजता में ही है। भव्य से भव्य अलंकार भी उसी स्थिति में उदात्त का निर्माण कर सकता है जब उसका प्रयोग सही रीति से किया जाए। छायावादी रचनाओं में मानवीकरण अधिक मात्रा में मिलता है। जैसे– 'छोटा जादूगर' कहानी में आए इस कथन में "मानो उसके रोएं रो रहे थे।"[21] यही नहीं प्रकृति का यह उदात्त रूप द्रष्टव्य है– "उस उज्ज्वल धूप में समग्र संसार जैसे जादू–सा मेरे चारों ओर नृत्य करने लगा।"[22] उपर्युक्त कथन में जड़ता को मानवोचित गुणों से युक्त करके प्रसाद ने औदात्य का निरुपण बखूबी कर दिया है।

उदात्त के चित्रण में बिम्ब विधान की अपेक्षा प्रतीक योजना अधिक महत्वपूर्ण है। बिम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है। 'गुण्डा' के मौलवी कुबरा खाँ का रूपांकन इस शैली के उदाहरण स्वरूप स्पष्ट है, "हाथ में हरौती की पतली सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेहंदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखाई पड़ रही थी, कुब्बेदार टोपी, छलकिया अंगरखा और साथ में लेसदार परतवाले दो सिपाही। कोई मौलवी साहब हैं।"[23]

कुल मिलाकर यह कहना सही होगा कि प्रसाद की कहानियों में उदात्त की अभिव्यंजना की अपार सम्भावनाएँ अभी भी मौजूद हैं, जिसके एक–एक रेशे को लेकर परखा एवं जाँचा जा सकता है। उदात्त की विराटता प्रसाद की कहानियों की विशेषता है, जो हमेशा हर समय में नूतन बनी रहेगी। डॉ. निर्मला जैन के शब्दों में कहें तो "लॉगिनुस का उदात्त एक ऐसी व्यापक अवधारणा है जिसमें प्राकृतिक विराटता, अलौकिक विस्तार, मानवीय गरिमा, भावों की प्रबलता, उद्दाम आवेग, मानसिक उर्जा, विस्मयकारी असाधारणता आदि के साथ–साथ परिशान्ति और सरलता का भी समावेश है।"[24] प्रसाद ने अपनी कहानियों में उपर्युक्त विवेचनों का वर्णन तो किया ही है साथ ही विविध उदात्त चरित्रों की सृष्टि भी की है, जिनमें प्रेम, सर्वस्व–त्याग, स्वाभिमान दानशीलता, क्षमाशीलता, राष्ट्रप्रेम, मातृ–पितृ भक्ति आदि के सर्वोत्तम रूपों की सशक्त अभिव्यक्ति प्रसाद की कहानियों में हुई है। निश्चय ही प्रसाद की कहानियों को पढ़ने हमारी भावना हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो ऊपर उठ जाती है। प्रसाद की कहानी में निहित शक्ति उसके उदात्त रूपों को अभिव्यंजित करने में ही है।

सन्दर्भ–

1. डॉ. विद्यावती द्विवेदी, प्रसाद साहित्य में उदात्त–तत्व, मथुरा : केदारनाथ एवं संस, 2005, पृ0 1
2. वही, पृ0 1
3. वही, पृ0 1
4. सं0 डॉ. नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व, नई दिल्ली : आर्य बुक डिपो, 1976, पृ0 20
5. डॉ. रमेश कुंतल मेघ, काँपती लौ, वाणी प्रकाशन : दिल्ली, 2009, पृ0 133
6. वही, 19
7. डॉ. विद्यावती द्विवेदी, प्रसाद साहित्य में उदात्त–तत्व, मथुरा : केदारनाथ एवं संस, 2005, पृ0 84
8. डॉ. विद्यावती द्विवेदी, प्रसाद साहित्य में उदात्त–तत्व, मथुरा : केदारनाथ एवं संस, 2005, पृ0 87
9. डॉ. निर्मला जैन, उदात्त के विषय में : नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2004 पृ0 16
10. जयशंकर प्रसाद, प्रतिनिधि कहानियाँ : दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ0 29
11. वही, पृ0 139
12. वही, पृ0 139
13. वही, पृ0 141
14. वही,पृ0 142
15. डॉ. रमेश कुंतल मेघ, काँपती लौ, वाणी प्रकाशन : दिल्ली, 2009, पृ0 119
16. प्रसाद, प्रतिनिधि कहानियाँ : दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ0 148
17. वही, पृ0 148
18. सं0 डॉ. नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व : नई दिल्ली, आर्य बुक डिपो, 1976, पृ0 52–53
19. डॉ. हरदयाल, कथा–धारा, नोएडा : मयूर पेपर बैक्स, सं0 2000, पृ0 164
20. सं0 डॉ. नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व : नई दिल्ली, आर्य बुक डिपो, 1976, पृ0 51
21. प्रसाद, प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ0 141
22. वही, पृ0 142
23. वही, पृ0 145
24. डॉ. निर्मला जैन, उदात्त के विषय में, पृ0 32

••••

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
दिल्ली–110007

समकालीन आधुनिक कला व भारतीय सौन्दर्यबोध

सुनील कुमार सिंह कुशवाहा*

"जीवन की अभिव्यक्ति करने वाली कला स्वयं की जीवन के समान ही रहस्यपूर्ण है । जीवन की ही भाँति वह नियमों में बंध नही सकती"। –एलिक फोर[1]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अब तक जिस कला आन्दोलन ने जन्म लिया है, केवल वे ही आधुनिक कला के नाम से विख्यात हैं। इन समस्त आन्दोलनों की यह विशेषता है कि वे परम्पराओं, प्राचीन शास्त्रीय नियमों तथा आदर्श मानी जाने वाली कला–कृतियों का विरोध करते है तथा औद्योगिक–क्रान्ति के फलस्वरूप समाज में आये परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में कला की पुनः व्याख्या करने की आवश्यकता अनुभव करते है। यही कारण है कि आधुनिक युग में कोई भी एक सर्वमान्य कला–सिद्धान्त प्रचलित नहीं हो सका है। कलाकरों ने प्रायः व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर आधारित कला–रूप प्रस्तुत किये है। और तदनुकूल सिद्धान्तों का लिखकर प्रचार भी किया है। कलाओं के इस आन्दोलन में कलाकार ही नही वरन् कला–आलोचक भी लगे हुए हैं।

इस प्रकार आधुनिकता सदैव परम्परा का विरोध करती आई है। तथा यह विरोध ही उसके अस्तित्व को आधार प्रदान करता है।[2] आधुनिकता व्यक्ति के चिन्तन की वह सतत प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को प्रगतिशील होने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए प्रागैतिहासिक युग के गुफा चित्र भी अपनी समय की आधुनिकता को समेटे रहे होगें। आधुनिकता वस्तुतः एक वैज्ञानिक दृष्टि है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चिन्तन के विकास की सूचनाओं का संवहन होता है।

आधुनिकतावाद ही आधुनिक कला की नींव है।[3] भारतीय कला व आधुनिक कला के तुलानात्मक अध्ययन से हमको आधुनिक कला की जो विशेषताएँ दिखायी पड़ती है। उनमें प्रमुख विशेषताएं है व्यक्तिवाद व निर्मिति प्रक्रिया में कलाकार का निर्बाध स्वातंत्र्य । भारतीय कला में समय व क्षेत्र की भिन्नता के साथ भिन्न शैलियाँ विकसित हुई इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु उसमें उसी शैली के कलाकारों में से प्रत्येक की व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुसार स्वतन्त्र पहचान मुश्किल है। उन कलाकारों ने अपनी कलाकृतियों पर अपने नाम को अंकित करने को भी कोई महत्व नहीं दिया। जब कि समकालीन आधुनिक कला पर व्यक्तिवाद इस हद तक बढ़ गया है कि कलाकृति को हस्ताक्षर के समान महत्व प्राप्त हो गया है और परिणामस्वरूप खरीददार जिनमें से बहुत लोग कलाकृति के अंतर्गत सौन्दर्य को अनुभव करने की क्षमता रखते है, अक्सर कलाकार की ख्याति को देखकर कलाकृति को खरीदते हैं। कहना अधिक उचित होगा, ऐसी परिस्थिति में कोई ख्यातनाम कलाकार बड़े पट पर केवल अपना बड़ा हस्ताक्षर अंकित करता है व उसको कलाकृति के रूप में स्वीकारा जाता है तो कोई आश्चर्य नहीं है।[4]

समकालीन आधुनिक कला में जो शब्द बहुलता से प्रयुक्त हो रहा है वह अमूर्तन है। 'अमूर्तन' कला भी खोज है। कलाकार निश्चित दिशा लेकर अमूर्त चित्रण की ओर अग्रसर होते है। कलाकारों की एक समझ विकसित होती है, तत्पश्चात वे अमूर्तन अपनाते है। मोन्द्रिया के अमूर्तन ज्यामितीय है। उसके अमूर्तन का क्रमिक चित्रण 'ट्रीज' नामक शृंखला में देखा जा सकता है। पॉल क्ली के अमूर्त चित्रण उसकी गहरी कलात्मक समझ तथा रंगों के अध्ययन का परिणाम है। इसी तरह भारतीय कला में कलाकारों ने कई कलाकार अमूर्तन को गम्भीरता से लिया तथा उस पर नवीन प्रयोग भी किए। गायतोंडे, सूर्यप्रकाश एंव नसरीन मोहम्मदी का नाम लिया जा सकता । वैसे गम्भीरता से कार्य करने की अमूर्त कलाकारों की एक शृंखला है। जिन्होंने भारतीय कला में अमूर्तन को स्थापित किया। अमूर्तन वस्तुतः कलात्मक तत्वों में सौन्दर्य देखने की एक प्रारंभिक प्रक्रिया है। अमूर्तन से सभी परिचित है किन्तु सही समझ न होने की वजह से सौन्दर्य को समझने में परेशानी आ जाती है। इसीलिए जितना अमूर्तन के नाम पर कुछ खिलवाई हुआ है उसके दुष्परिणाम भी समाने आए हैं। लोग अमूर्तन को ही आधुनिक कला समझने लगे। ऐसे कलाकारों के लिए प्रयोग एवं गम्भीरता की समझ का अभाव होता है, फलतः जनमानस में आधुनिक कला के प्रति एक उपेक्षापूर्ण वातावरण तैयार हो गया है। कला के प्रति तरह–तरह के उपहासात्मक दृष्टान्त इसीलिए आरोपित किए जाते है । कला के प्रति संवाद विहीनता ही इस खाई को गहराए जा रही है आवश्यकता जनमानस तथा कलाकारों के बीच के अन्तर को कम करना होगा। कला को समझने के लिए सतही तौर पर कला रसिक नहीं तैयार करने हैं बल्कि उन्हें कला के सौन्दर्यात्मक एंव गाम्भीर्य से जोड़ना होगा जब तक सौन्दर्य का आस्वादन अन्तरतम गहराईयों से नहीं होता तब तक किसी भी प्रेक्षक को कलात्मक आनन्द नहीं मिल सकता। निर्मित प्रक्रिया में कलाकार को व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य होना जरूरी है। किन्तु जब उसके सामने कोई विशेष सामाजिक उद्देश्य हो तो यह भी जरूरी है कि वह उस उद्देश्य की सफलता के लिये उसके अनुरूप कार्य करे।

कला के क्षेत्र में अब तक इतने प्रयोग हो चुके हैं कि अब किसी नये रूप की कला शैली के उदय की कल्पना भी कठिन है। वर्तमान में कलाकार का एक ही लक्ष्य हो सकता है अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुरूप शैली का चरम सीमा तक विकास बढ़ाने में सहायक या किसी अन्य सामाजिक कार्य में प्रयुक्त हों। कलाकृति किस शैली के अन्तर्गत आती है यह प्रश्न अब गौण है। वैसे बढ़ते हुए भौतिकवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक चित्रों की मांग कम हुई है और अधिकतर लोग गृहीतभागों का सौन्दर्य बढाने के उद्देश्य से चित्र खरीदते है। नयी दिशा में सृजन की संभावना क्षीण होने से ललित कला (Fine Arts) व प्रयुक्त कला (Applied Arts) में भेद करना अर्थहीन हो गया है। जो कलाकार यह कहते आये हैं कि वे केवल आत्म संतोष के लिये सर्जन करते हैं वे या तो आत्म

वंचना करते हैं या उनका कथन दर्पोक्ति मात्र है। ऐसे कलाकार भी अपने चित्रों की प्रदर्शनी करने से नहीं चूकते, यह क्या दर्शाता है।[5] कुछ बिन्दुओं के स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट के रूप में लेख मे उल्लिखित एम0 एफ0 हुसैन के रामायण के एक चित्र की परम्परागत भारतीय शैली के वनखल के एक भित्ति चित्र से संक्षिप्त तुलना प्रस्तुत की गयी है जो लेख के कुछ बिन्दुओं को स्पष्ट करने में सहायक होगी।

चित्र 1: याचक रावण (कनखल का भित्ति चित्र) अनुकृति– पी मनसाराम

विशेषताएं : 1. प्रसंग की सुस्पष्टता। 2 सीता के सतीत्व का गौरव करते हुए उसकी आकृति को दिया गया महत्व, उसका उदासरूप व रावण को गौण स्थान, सब विषय की धर्मभावना के अनुकूल है। 3 चित्र से चित्रकार का रामायण का अच्छा ज्ञान एंव उसकी धर्मनिष्ठा प्रतीत होती है। 4. विषय की धर्मभावना के अनुकूल सौम्य व गतिमान रेखाओं एंव कोमल रंगों का प्रयोग।

चित्र : 2. उन्मत्त रावण चित्रकार– एम0एफ0 हुसैन

1. शीर्षक पढ़े बिना प्रसंग का आकलन कठिन 2. कामुक रावण की वीभत्स आकृति को दिया गया प्रमुख स्थान व सीता की दयनीय अवस्था रामायण की धर्मभावना की पवित्रता के प्रतिकूल है। 3. बलात्कार जैसा दृश्य, जिसका रामायण में उल्लेख नहीं है, चित्रित कर चित्रकार ने रामायण के सनातन आदर्श विचारों की अवहेलना की है जो चित्रकार के विकृत दृष्टिकोण व रामायण की धर्मिकता के प्रति उसके अज्ञान को दर्शाता है। इस आसुरी चित्र में दैवी शक्ति के अस्तित्व की स्पष्ट झलक तक नहीं दिखायी देती। 4. चित्र शीघ्र तूलिका संचालन एंव मोटी तीखी रेखाओं से युक्त चित्रकार की अभ्यस्त शैली का प्रदर्शन मात्र हैं एंव व्यावसायिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

चित्रों का तुलात्मक विवेचन

(अ) चित्र 1 – रामायण की विशेष घटना का आसानी से पालन हो जाता है।

चित्र 2. – किसी प्रसंग का बोध नहीं होता।

(ब) चित्र 1. कोमल, मंदगति, लयबद्ध यथोचित रेखा से अंकित आकृतियों, प्रतीकत्मकता व कुशल संयोजन के साथ किया रसोत्पादक भावपूर्ण चित्र

चित्र 2– वक्रगति मोटी कोठर रेखाओं से किया आसुरी–भाव–दर्शक विभत्सपूर्ण चित्र जो रामायण की मूल भूत पवित्र भावना के प्रतिकूल है।

(स) चित्र 1– रामायण की मूलभावना–सीता के सतीत्व की महिमा के अनुरुप सीता की उदात्त आकृति को महत्व व रावण को गौण स्थान देकर रामायण की पवित्र धर्मभावना का किया गौरव।

चित्र 2. – रावण की कामोन्मत्त आकृति को महत्व देकर एंव तेजोमयी सीता को दयनीय अवस्था में चित्रित कर रामायण की धर्मभावना पर चित्रकार द्वारा किया कुठाराघात।

(द) चित्र 1– चित्रकार का रामायण के प्रति भक्ति भाव दर्शाता है। भक्तिभाव से संपृक्त चित्र।

चित्र 2 – रामायण की पवित्र भावना की अवहेलना के अलावा चित्रकार का रामायण के प्रति अज्ञानपूर्ण विकृत दृष्टिकोण दर्शाता है।

(य) चित्र 1– अनुभूतिपूर्वक, धार्मिकता का पोषण करने के उद्देश्य से बनाया चित्र।

चित्र 2– रामायण कथा चित्रण का बहाना बनाकर अपनी अभ्यस्त जोश पूर्ण आधुनिक शैली का प्रदर्शन मात्र करने के उद्देश्य से बनाया चित्र जो चित्रकार की अवसरवादित प्रदर्शन वृत्ति की ओर संकेत करता है।[6]

भारतीय सौन्दर्य बोध : प्राकृतिक या सृजित वे वस्तुएं जो हमारी बाह्य इन्द्रियों या आत्म अनुभूति को प्रभावी रूप से आकर्षित करते हैं। वे सुन्दरता के गुणो से युक्त होते है। इन्ही सुन्दरता के अनुभव को ही सौन्दर्य–बोध कहते है। सुन्दर चीज को देखकर मानव प्रफुल्ल हो उठता है और कुरूप चीज देखकर खिन्न हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सच है।[7] जिस प्रकार से सौन्दर्य तत्व के अनुभव के विषय में यह अभिमत है कि यह (अनुभव) का सजातीय है, मूलतत्व दार्शनिक दृष्टि से प्रथम दो तत्वों अर्थात् अद्वैत तथा शुद्धात्मा के आधार पर स्पष्ट किया जाता है उसी प्रकार से भौतिक सौन्दर्य का मूलतत्व दार्शनिक विवेचन अन्य दो तत्वों अर्थात विश्वात्मा एंव भूत तत्व के आधार पर स्पष्ट करते हैं।[8]

सौन्दर्य चाहे प्रकृति में हो चाहे कलाकृति में हो इसके दो पक्ष होते है।

1. इन्द्रियबोध एंव 2. बुद्धि बोध। इन्द्रिय बोध्य पक्ष का क्षेत्र दृश्यमान तथा श्रूयमान है। क्योंकि केवल दो ज्ञानेन्द्रियां अर्थात् नेत्र तथा कान सौन्दर्य बोधक इन्द्रियां है।[9] नेत्रेन्द्रिय एंव कर्णेन्दिय दो ही सौन्दर्यबोधक इन्द्रियां है क्योंकि वे बुद्धि के महानतर साधन है एंव स्वादग्राही रसनेन्द्रिय गंधग्राही घ्रोणेन्द्रिय से अधिक प्रत्यक्षकरी है। चक्षु और श्रवण इन्द्रियाँ बाह्य सत्य पदार्थ की इच्छा को उत्पन्न करता है। कान एंव आँख रसनेन्द्रिय तथा घ्रोणन्द्रिय की तुलना में आकृतिगत सम्पूर्णता (Stuctural Whole) को ग्रहण करने में अधिक सक्षम है।

सौन्दर्यपरक अनुभूति (Aesthetic Emperience) के प्राथमिक सा सबसे सरल गुण वे है। जिनका सम्बन्ध केवल आकृति से है। और जिनका बोध हमें दृष्टि के साधारण प्रयोग से हो जाता है।[10] अधिकांश सौन्दर्यपरक गुण ऐसे होते है जिनकी प्रतीति में केवल इन्द्रियां ही नहीं वरन् मानसिक शक्तियां भी सशक्त और सतत रूप से काम मे आती है। इसे मनोसंवेदिक गुण कहते हैं। सौन्दर्य अनुभव भारतीय हो या

पश्चिमी, मानव की संवेदी इन्द्रियां एक जैसे ही कार्य करते है। किन्तु देश–काल संस्कृति आदि वैचारिक भिन्नता भी हमारे सौन्दर्य बोध को प्रभावित करते है।

मूलभूत सिद्धान्त एक से होने के बावजूद भी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र योरपीय सौन्दर्यशास्त्र से भिन्न प्रतीत होने के कुछ कारण है। सौन्दर्यानुभूति के कलाकृति में प्रकट हुए रूप को समाज का जीवनदर्शन व रहन सहन काफी हद तक प्रभावित करते है। भारतीय जीवन–दर्शन मुख्यतः आध्यात्मिक रहा है। जबकि योरपीय जीवन दर्शन भौतिकवादी।

अब हम उपर्युक्त भिन्नता को ध्यान में रखते हुए भारतीय सौन्दर्य बोध के दृष्टिकोण से समकालीन आधुनिक कला का विचार कर सकते है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों ने सौन्दर्य की मानव को आकर्षित करने की सामर्थ्य व कला की उपयोगिता व महत्व को पहचाना जरूर, परन्तु उस ओर उन्होंने इतना ध्यान नहीं दिया जिससे कि सौन्दर्य शास्त्र का क्रमबद्ध विवेचन उपलब्ध हो। वेद, पुराण, काव्य व शास्त्रीय ग्रन्थों में कला के प्रकार कलाकारों को आवश्यक निर्देष व कुछ सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्त मिलते हैं। इन अनेक ग्रन्थों में से विष्णुधर्मोत्तर पुराण, कामसूत्र, नाट्यशास्त्र विशेष महत्वपूर्ण हैं। और उनमें शडांग व रस–सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख है। बहुत से ग्रन्थों में विद्याओं व कलाओं की सूची, विद्या व कला में भेद, कारीगर व शिल्पी में अन्तर, शिल्प की परिभाषा, कलाओं का धार्मिक कार्यो में महत्व, कलाओं पर आक्षेप का उनका निषेध, सामाजिक जीवन में कला व कलाकार का स्थान आदि विषयों पर चर्चा है। अनुपात, वर्ण, प्रतीक आदि कला–तत्वों संबन्धी कहीं–कही निदेश है। किन्तु सब मिलाकर किसी निश्चत सौन्दर्य शास्त्र की उपलब्धि हुई है, ऐसा नहीं मान सकते। उपर्युक्त ग्रन्थों में उल्लिखित चर्चा व निर्देशों से कला का ध्येय व दिशा का निर्धारण अवश्य हुआ होगा किन्तु केवल शाब्दिक सिद्धान्तों से कलाकृति को विशिष्ट रूप में नहीं ढाला जा सकता यह कार्य कला परम्परा व कलाकार की प्रतिभा के समन्वय से ही होता है। अतः सर्जन कार्य सौन्दर्य शास्त्र का मर्यादित स्थान है।[11] प्रचीन भारतीय कला के निर्माण का श्रेय वंश परंपरागत होते आये सर्जन कार्य व कलाकारों की प्रतिभा को है। मनुष्य की कृति–भणिति–निर्मित' सुन्दर और प्रिय होती है और होनी ही चाहिये। उसमें आत्मा–चैतन्य–अपनापन की झांकी मिलती है। अचेतन, स्थूल माध्यम में चेतना का चमत्कार यही तो कला का कृतित्व है। अतएव सुन्दर की अनुभूति में आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। आत्मा रस–आनन्द– सुन्दर–प्रिय हो कला इसी की सर्जना करके कृतार्थ होती है। संक्षेप में यह भारतीय सौन्दर्य–दृष्टि का आध्यात्म है। Metaphysic of Art.[12] भरतमुनि ने रस–विषयक सामग्री तो बहुत विशद रूप में प्रस्तुत की थी, किन्तु जब रस की उत्पत्ति का प्रसंग आता है। तो एक मात्र एक सूत्र प्रस्तुत करते है।[13] वह कहते है कि जैसे नाना व्यंजनों के साथ औषधि आदि के संयोग से खाद्य पदार्थो में रस की निष्पत्ति होती हे। उसी प्रकार भावों के समीप आने से रस निष्पत्ति होती है।[14] भरत मुनि थे, ऋषि नहीं। वे कलाकार थे वैदिक दृष्टा नहीं । परिणाम यह हुआ कि रस और सौन्दर्य का आध्यात्म मन के ठोस धरातल–मनोभावों पर उतर आया। इतिहास का दृष्टि से सम्भवतः यह 'रस' और 'सुन्दर' का एकीकरण था।[15]

सौन्दर्य की अनुभूति वस्तु से प्रारम्भ होकर व्यक्ति की रस दशा में परिणित हो जाती है। वेद में कवि की वाणी को दिव्य चेतना से युक्त प्रीतिकर , मंगलीकरण तथा पवित्र भावनाओं की प्रेरणादायी माना है। वास्तव में सौन्दर्य की अनुभूति को अलौकिक मानते हुए उसे कल्याणकारी भी मानते है। कालिदास के अनुसार सौन्दर्यानुभूति सात्विक होती है।[16] इस प्रकार भारतीय दर्शन में सौन्दर्य चैतन्य का आनन्द है और आनन्द आत्मा का अंग है। किन्तु समकालीन जीवन में हो रहे परिवर्तन ने हमारी वैचारिक दृष्टि व अनुभूति को प्रभावित किया है। जिसका परिणाम हम समकालीन कला मे देख सकते है। ठीक इसीप्रकार सुन्दरता पूर्ण अलौकिक न होकर लौकिकतावादी व व्यक्तिवादी दृष्टि पर निर्भर करती है।

इस तरह समय ने हमारी सौन्दर्य दृष्टि को परिवर्तित कर हमारे सौन्दर्य बोध को प्रभावित किया है।

सन्दर्भ–

1. अशोक, कला निबन्ध, ललित कला प्रकाशन, पेज 21 अलीगढ़ (उ0प्र0), 1989
2. राम विरंजन, समकालीन भारतीय कला, पेज 7, निर्मल बुक ऐजेन्सी कुरूक्षेत्र, 2003
3. श्री कुमार शील, आधुनिक कला का महत्व, कला अंक, पेज 178, सम्मेलन पात्रिक काशी।
4. र0 वि0 साखलकर, कला के अन्त दर्शन, पृष्ठ 83, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 2004।
5. र0 वि0 साखलकर, कला के अन्त दर्शन, पृष्ठ 88, 89, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 2004।
6. र0 वि0 साखलकर, कला के अन्त दर्शन, पृष्ठ 89, 90, 91, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 2004।
7. डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद वाजपेयी, सौन्दर्य, पृष्ठ 2, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
8. डॉ0 कान्ति चन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्र कला शास्त्र, पृष्ठ 147 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
9. डॉ0 कान्ति चन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्र कला शास्त्र, पृष्ठ 171 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
10. मंजुला सक्सेना, ऐस्थैटिक्स (कला सौन्दर्य का दार्शनिक विवेचन) पृष्ठ 242, डी0 के0 प्रिन्टवर्ल्ड(प्रा0) लि0 नई दिल्ली
11. र0 वि0 साखलकर, कला के अन्त दर्शन, पृष्ठ 83, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 2004।
12. डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, कला दर्शन, पृष्ठ 169, साहित्य संगम इलाहाबाद 1988
13. तल विभावानुभाव व्याभिचारिसंयोगाद्र सनिष्पतिः। पृष्ठ 172 ना0 शा0 गा0 ओ0 सि0 , हि0 अभि0 भा0 पृष्ठ 442।
14. डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, सौन्दर्य शास्त्र एक तत्व मीमांसीय अध्ययन पृष्ठ 249। उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान 2002
15. डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा, कला दर्शन, पृष्ठ 161, साहित्य संगम इलाहाबाद 1988
16. डॉ0 श्रोतिय, कला बोध एंव सौन्दर्य पृष्ठ 122, छवि प्रकाशन मुजफरनगर (उ0 प्र0) 1989

●●●●

*शोध छात्र, ललित कला विभाग
माहत्मा गांधी काशी विद्यापीठ,, वाराणसी, उ0 प्र0

लौकिक पक्ष की उद्भावना में संलग्न प्रतीत होता है।[22] इस काल की मूर्तियों में मोटे तौर पर ये लक्षण हैं[23]–

1. मस्तक साँचे में ढाला गया है और शरीर का शेष भाग हाथ से डौलियाकर बनाया गया है।
2. ऊपर से चिपकाकर अलंकरण किया गया है।
3. खचित वृत्तों द्वारा आभूषणों का संकेत है।
4. खड़ी मुद्रा जिसमें टाँगें (पैर) ठिगनी और एक दूसरे से अलग हटी हुई है।
5. आँखें छीमी के कटाव की लंबोतरी है। जिनमें पुतलियाँ दिखाई गई हैं, जिनसे मुख का भावपूर्ण आकर्षण बढ़ गया है।

शुंग काल में साँचे से स्त्रियों की अनेक विषयक ढार निकाली गई है। इनमें कुछ को देवी माना जा सकता है और कुछ को जीवित प्रतिलिपियाँ।[24] कुषाण काल में पाषाण शिल्प का गौरव बहुत बढ़ गया, जिससे मृण्मूर्तियाँ अपना गौरवशाली पद नहीं रख सकीं।[25] इस काल में बड़े आकार में प्रतिमा को साँचे में ढाला जाता था, गर्दन से नीचे का भाग हाथ से तैयार होता था, ताकि धड़ के ऊपर बने छिद्र में उस सिर को जोड़ दिया जाय।[26] कुषाण काल में मातृदेवी की डौलिकर बनाई गई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, ये प्रायः स्टूल पर बैठी या खड़ी मुद्रा में दिखाई गई है।[27] गुप्त युग में कला की उन्नति के साथ मिट्टी की मूर्तियाँ भी अतीव सुन्दर ढंग से सम्पूर्ण साँचे में ढाली जाने लगी। इस प्रकार की छोटी मूर्तियों में विभिन्न कार्य शैली का प्रयोग समय–समय पर होता रहा।[28] कुषाण काल की कला में जो विदेशी तत्व तथा विषय थे, कलाकारों ने उसका परित्याग कर दिया।[29] इस काल की मृण्मूर्तियों के सिर के दो भाग किये जाते थे, अगला तथा पिछला, दोनों अलग–अलग साँचे में ढाले जाते और मिलाकर एक सुन्दर सिर तैयार हो जाता।[30] गुप्त काल में शारीरिक सौष्ठव पर बड़ा ध्यान दिया गया। इस काल की मूर्तियों के चेहरे पर अनूठी सौम्यता, शालीनता एवं सुन्दरता है।[31] भारतीय लोक जीवन का सर्वांगीण प्रतिबिम्ब इस युग की मृण्मूर्तियों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है।[32]

सन्दर्भ–

1. श्रीवास्तव, बृजभूषण– प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी, 1998, पृ0 110
2. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम– प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना, 1977, पृ0 110
3. मित्र इन्दुमती– प्रतिमा विज्ञान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1972, पृ0 79
4. काला, सतीश चन्द्र– भारतीय मृत्तिका कला, इलाहाबाद, 1972, पृ0 9
5. पाण्डेय, जे0एन0– प्राचीन भारतीय कला, इलाहाबाद, 1988, पृ0 194
6. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 10
7. श्रीवास्तव, बृजभूषण– पूर्वोक्त, पृ0 226
8. अग्रवाल, वासुदेवशरण– भारतीय कला, वाराणसी, 1996, पृ0 322
9. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 10
10. अग्रवाल, वासुदेवशरण– पूर्वोक्त, पृ0 322
11. थपलयाल, किरण कुमार– सिन्धु सभ्यता, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1976, पृ0 95
12. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 11
13. अग्रवाल, वासुदेवशरण– पूर्वोक्त, पृ0 322
14. थपलयाल, किरण कुमार– पूर्वोक्त, पृ0 95
15. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 13
16. अग्रवाल, वासुदेवशरण– पूर्वोक्त, पृ0 323
17. वही
18. श्रीवास्तव, बृजभूषण– पूर्वोक्त, पृ0 275
19. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 16
20. उपाध्याय वासुदेव– प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी, 1998, पृ0 181
21. श्रीवास्तव, बृजभूषण– पूर्वोक्त, पृ0 304
22. श्रीवास्तव, बृजभूषण– पूर्वोक्त, पृ0 304
23. अग्रवाल, वासुदेवशरण– पूर्वोक्त, पृ0 327
24. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 17
25. अग्रवाल, वासुदेवशरण– पूर्वोक्त, पृ0 329
26. उपाध्याय वासुदेव– पूर्वोक्त, पृ0 181
27. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 30
28. उपाध्याय वासुदेव– पूर्वोक्त, पृ0 181
29. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 32
30. उपाध्याय वासुदेव– पूर्वोक्त, पृ0 103
31. काला, सतीश चन्द्र– पूर्वोक्त, पृ0 32
32. श्रीवास्तव, बृजभूषण– पूर्वोक्त, पृ0 366

●●●●

* शोध छात्र, प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** शोध छात्र, प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वैदिक साहित्य में रत्न का उपयोग

राकेश कुमार शुक्ल*

वैदिक साहित्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस धरती पर मानव जन्म के साथ ही उसका उदय हुआ, और मानव जीवन के विकास के अनुरूप ही उसकी धारा निरन्तर आगे बढ़ती गई। मानव जीवन के इतिहास के निर्माण के जितने भी साधन हैं, उनमें वैदिक साहित्य का स्थान मुख्य है।

वेद सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के मूल रहें हैं। वेदों के अध्ययन और अनुशीलन से ही संस्कृतियों का स्वरूप निर्धारण हुआ है। वेदों ने न केवल भारतीय संस्कृति का परिष्कार किया है, अपितु विश्व संस्कृति के परिष्कार का भी श्रेय वेदों को ही है। पाश्चात्य जगत् भी वेदों के अनुशीलन से उतना ही लाभान्वित हुआ है, जितना भारतवर्ष। वेदों की ज्योति अजर और अमर है। वेद न केवल मानव के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं अपितु उनमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरूषार्थ चतुष्ट्य का समन्वय है। लौकिक कर्मों के वर्णन के साथ ही अध्यात्म और दर्शन का अपूर्व सम्मिश्रण उनमें प्राप्त होता है। अतएव कहा गया है कि वेद समस्त ज्ञान के राशि है और धर्म के मूल है।[1]

वेदों में अनेक आभूषणों का वर्णन है। आभूषण दो प्रकार के होते थे– मणियों से युक्त और मणियों से रहित। वेदों में अनेक मणियों का वर्णन प्राप्त होता है। मणियों से युक्त (मणिबन्ध) का विशेष महत्त्व बताया गया है।[2] मणि के लिए मणि और रत्न दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। रत्नधारण करने वाले को 'रत्निन्' कहते थे।[3] तैत्तिरीय संहिता में रत्न धारण करने वाले को 'रत्निन्' कहा गया है।[4]

अथर्ववेद में सोने के आभूषणों को धारण करने से विविध लाभ बताये गये हैं। इसके धारण से अकाल–मृत्यु से बचकर वृद्धावस्था तक जीवित रहने का उल्लेख है।[5] सोने और चांदी के आभूषणों को धारण करने से मनुष्य दीर्घायु होता है।[6] इसी प्रकार सुवर्ण धारण से तेज, ओज और बल की प्राप्ति का वर्णन है। अलंकृत व्यक्ति को समाज में आदर मिलता है।[7] स्त्रियां सुन्दर वस्त्र आदि पहनकर किसी से मिलने जाती थी।[8] आंख में अंजन लगाना और शरीर पर उबटन लगाना आदि भी स्त्रियों के अलंकरण थे।[9]

अथर्ववेद में अनेक धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें मुख्यतया ये हैं– मणि (मोती) , कृषन (मोती) , रत्न, हिरण्य (सुवर्ण) ,रजत, अयस्, त्रपु, सीस। यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में अनेक धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये निम्नलिखित हैं– हिरण्य (सोना), अयस् (कांसा), भयाम (लोहा) लोह (तांबा), सीस (सीसा), त्रपु (रांगा एवं टिन)।[10]

अथर्ववेद का प्राचीन नाम अथर्वांगिरस भी है। इसमें दो प्रकार के विषयों का वर्णन है। अथर्वन् शब्द ऐसे जादू के प्रयोगों को सूचित करता है जो शुभकारी हो। अंगिरस् शब्द अशुभ और दुष्ट अभिचार प्रयोगों के लिए है। इन प्रयोगों को काला जादू भी कहा जा सकता है। ये प्रयोग दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए होते हैं। इन दोनों प्रकार के प्रयोगों को लेकर अथर्ववेद का नाम अथर्वांगिरस वेद पड़ा था; संक्षेपतः इसको अथर्ववेद कहा जाने लगा। ब्लूमफील्ड, ग्रिफिथ, विन्टरनित्स, मैकडॉनल आदि सभी विद्वानों ने इस मत का समर्थन और प्रतिपादन किया है।

सभी पाश्चात्य विद्वान् इस वेद को जादू का वेद मानते हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त को अपनाकर सम्पूर्ण अथर्ववेद की व्याख्या जादूपरक की है। अथर्ववेद के प्रत्येक सूक्त में उन्होंने किसी न किसी प्रकार के जादू का प्रयोग माना है। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक सूत्र में वर्णन किया है कि रोगनाशन के लिए यह जादू का प्रयोग है, विषनाशन के लिए यह जादू है इत्यादि। ऐसा कहना तर्क संगत नहीं है। इसमें सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, धर्म, दर्शन, और राजनीति आदि अनेक विषय हैं, जिनका जादू–टोने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव सभी मन्त्रों का जादू टोने वाला अर्थ न मानकर, उनका जो वास्तविक अर्थ है, वह माना गया है और उसी के अनुसार यहां वर्णनीय है। जिन मन्त्रों में वस्तुतः जादू–टोने आदि का वर्णन है, उनके हानि–लाभ आदि का वर्णन भी मन्त्र में दिये गये विवरण के अनुसार किया गया है। अथर्ववेद में 'जंगिड मणि' का वर्णन प्राप्त होता है।[11] जंगिड मणि का दूसरा नाम अंगिरा भी है।[15] मणि क्या है?इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार मणि किसी भी वस्तु की बन सकती है, और ताबीज की तरह बांधी या पहनी जाती है। मणि का वास्तविक अभिप्राय प्रचलित मनका शब्द, जो मणि या मणिक का अपभ्रंश है, से स्पष्ट होता है।

जंगिड मणि किस वृक्ष आदि से बनती है, इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। सायण ने अथर्ववेद की व्याख्या में कहा है कि जंगिड एक वृक्ष है।[13]

जंगिड मणि को ताबीज की तरह बांधा या पहना जाता है।[14] जंगिड मणि को दीर्घायु के लिए तथा सुख–शान्ति के वृद्धि के लिए पहना जाता है।[15] जंगिड मणि के सहस्रों लाभ है। इसकी शक्तियां हजारों हैं। यह रक्षा करती है।[16]

प्रतिसर मणि– इस मणि को कश्यप ऋषि ने बनाया और उसने ही इसका प्रचार–प्रसार किया।[17] प्रतिसर मणि पहनने वाले पर अप्सरा, गन्धर्व और मनुष्यों का कोई भी कृत्याप्रयोग सफल नहीं हो सकता है। जो इस मणि को धारण करता है, वह सभी दिशाओं में शोभित होता है।[18] प्रतिसर मणि वर्म अर्थात् कवच की तरह रक्षा करती है।[19] जो इस मणि को धारण करता है, वह सिंह एवं व्याघ्र के तुल्य बलवान होकर शत्रुओं का दमन करता है।[20] प्रतिसर मणि बहुत शक्तिशाली है। यह वीर को ही बांधी जाती है। यह मंगलकारी एवं रक्षक है।[21] कौशिक सूत्र में इसका वर्णन प्राप्त होता है कि यह मणि तिलक वृक्ष से बनती है।[22] इस मणि को दही और शहद में तीन रात डुबाकर रखने के तदन्तर उससे अभिमन्त्रित करके बांधे, यही इसके तैयार करने की विधि है।

वरण मणि : यह वरण मणि वृक्ष की बनी हुई मणि है। यह सभी शत्रुओं एवं दुःखों को नष्ट करती है, अतः इनका नाम वारक होने से वरण पड़ा है।[23] यह वरण मणि सभी प्रकार के कृत्याप्रयोगों से मानवीय भयों से और सभी प्रकार के पापों से

रक्षा करती है।[24]

अस्तृत मणि– अथर्ववेद में द्रष्टव्य है कि यह मणि घी, दूध, शहद आदि से मिश्रित है।[25] इससे ज्ञात होता है कि यह मणि घी, दूध, शहद आदि को मिलाकर बनायी जाती है। सायण ने अथर्ववेद की व्याख्या में कहा है कि इसको कोई दबा नहीं सकता है, इसलिए इसका नाम अस्तृत पड़ा। अथवा त्रिवृत् मणि का ही नाम अस्तृत है।[26]

दर्भ मणि– अथर्ववेद के पांच सूक्तों के 39 मंत्रों में इस मणि का वर्णन मिलता है।[27] नक्षत्रकल्प में वर्णन किया गया है कि काण्ड 19 के 28 से 30 सूक्तों का एन्द्री नामक महाशान्ति के दर्भमणि–बंधन में विनियोग होता है।[28] यह मणि विजय, बल, वर्षा, पशुलाभ और शत्रु आक्रमण के समय लाभकारी है। दर्भमणि को दीर्घायु और कल्याण के लिए बांधा जाता है।[29]

औदुम्बर मणि– नक्षत्र कल्प में औदुम्बर मणि का विनियोग बताया गया है कि यह मणि कौबेरी अर्थात् कुबेर–सम्बन्धी महाशान्ति में काम आती है।[30] यह मणि धन के इच्छुक के लिए है। यदि धन का नाश हो गया हो तो उस समय यह शान्ति देने के लिए है। औदुम्बर मणि उदुम्बर अर्थात् गूलर से बनती है।[31] यह वीरता का सूचक है, अतः वीर को ही बांधी जाती है। यह मणि शत्रुनाशक है।

शंखमणि– कौशिक सूत्र में विनियोग है कि उपनयन संस्कार के बाद दीर्घायु के इच्छुक बालक को शंखमणि अभिमंत्रित करके बांधे।[32] नक्षत्र कल्प में कहा गया है कि यह शंखमणि वारूणी अर्थात् जल–सम्बन्धी महाशान्ति के लिए की जाती है।[33] जल के भय से रक्षा के लिए यह शंख मणि बांधी जाती है। शंख मणि को सर्वरोग–नाशक कहा गया है।[34]

शतावरमणि– नक्षत्रकल्प में शतावर मणि को सन्तति लाभ के लिए कुलक्षय के समय प्रयोग करने का विधान है।[35] सन्तति नाम की महाशान्ति में शतावर मणि को अभिमन्त्रित करके बांधे। शतावर मणि का ऋषभ औषधि के रूप में वर्णन है।

अमीवर्त मणि– कौशिक सूत्र में इस मणि को बनाने की विधि का वर्णन प्राप्त होता है।यह मणि शत्रु से तिरस्कृत राज्य की वृद्धि के लिए बांधी जाती है।

पर्णमणि– कौशिक सूत्र में पर्णमणि के निर्माण की विधि वर्णित है कि बल आयु और धन की पुष्टि के लिए पलाश अर्थात् ढ़ाक के वृक्ष की मणि को वासित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।[36] नक्षत्रकल्प का कथन है कि सम्पत्ति की इच्छा वाला व्यक्ति आंगिरसी महाशान्ति करावें और पलाश मणि बांधे।[37] यह अपने बल से शत्रुओं को नष्ट करती है।

फालमणि– फालमणि खैर की लकड़ी से बनती है।[38] खैर की लकड़ी के साथ फाल अर्थात् लोहा भी इसमें लगाया जाता है।[39] अथर्ववेद में फालमणि के लाभों का वर्णन मिलता है।[40] यह शत्रुओं और दुर्भाव वाले व्यक्तियों को नष्ट करती है।[41] यह कवच का काम देती है।

वैयाघ्र मणि– अथर्ववेद में वैयाघ्र मणि का वर्णन मिलता है।[42] यह मणि औषधियों के रस से बनती है। यह विनाश से बचाने वाली है। यह मणि व्याघ्र के तुल्य प्रभावशाली है। अतः इसे वैयाघ्र मणि कहा है। यह सभी रोगों और सभी रोगकृमियों को नष्ट करती है।[43] अर्थात् रत्न जहाँ एक तरफ हमारी सुन्दरता एवं वैभव के प्रतीक होते हैं। वही ये हमारे सुरक्षा के साथ अनेक जीवनदायनी औषधियों के प्रयोग में लाये जाते हैं। इनका प्रयोग अनेक धर्म कार्यों में उपयोग किया जाता है।

सन्दर्भ–

1. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनुस्मृति 2.7, वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनुस्मृति 2.6
2. फालमणि, अथर्ववेद 10. 6, अस्तृतमणि अथर्ववेद 19. 46
3. रत्नधाम्0। अ0 7. 14. 1
4. तैत्ति सं0 1. 8. 9. 1
5. हिरण्यम्.....जरामृत्युर्भवति यो विभार्ति। अ0 19. 26. 1
6. सुवर्ण..... चन्द्रं वर्चसा सं सृजति0 । ज0 19. 26. 2
7. आयुशे त्वा वर्चसे .....विभासासि जनां अनु। अ0 19. 26. 3।
8. एमां अगुर्योशितः शुम्भमान0। अ0 11. 1. 14
9. यदान्जनाभ्यन्जनम्0 । अ0 9. 6. 11
10. यजु0 18. 13., तै. सं0 4. 7. 5. 1
11. अ0, 2. 4, 19. 34, 19. 35
12. अ0, 19. 34. 6
13. अ0, 2. 4, 1
14. अ0, 2. 4. 1
15. अ0, 2. 4. 1
16. अ0, 2. 4. 2
17. अ0, 8. 5. 14
18. अ0, 8. 5. 13
19. अ0, 8. 5. 10
20. अ0, 8. 5. 12
21. अ0, 8. 5. 1
22. कौशिक सूत्र 3. 2
23. अ0, 10. 3. 5
24. अ0, 10. 3. 4
25. अ0, 19. 46. 6
26. अ0, 19. 46. 1
27. अ0, 19. 28 30–33
28. नक्षत्रकल्प, 17. 19
29. अ0, 19. 33. 4
30. नक्षत्रकल्प, 17. 19
31. अ0, 19. 31. 14
32. कौशिक सूत्र, 7, 6 और 7. 9
33. नक्षत्रकल्प, 17, 19
34. अ0, 4. 10. 3
35. नक्षत्रकल्प, 17, 19
36. कौशिक सूत्र, 3, 2
37. नक्षत्रकल्प, 17, 19
38. अ0, 10. 6. 6
39. अ0, 10. 6. 2
40. अ0, 10. 6. 1–35
41. अ0, 10. 6. 1
42. अ0, 8. 7. 14
43. अ0, 8. 7. 14

●●●●

शोध–छात्र, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दी0द0उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सूर्य देवता का वैदिक एवं पौराणिक स्वरूप

मारूत नन्दन मिश्र

वैदिक देवताओं में सूर्य देवता का स्थान तथा वैशिष्ट्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूर्य देवता जगत् में दृश्यमान भौतिक सूर्य के साथ तादात्म्य भाव से सम्बद्ध हैं सारे सौर देवता उन्हीं के अधीन रहते हुए समयानुसार समस्त जागतिक प्रपंच के निर्वहन में इनका सहयोग करते हैं। दैविक तथा भौतिक सूर्य दोनों एक साथ तादात्म्य रूप से रहने के कारण आँख से ओझल नहीं हो पाते हैं।

केवल उसका प्राकृतिक रूप अभिप्रेत है या मानवीय रूप, इसका निर्णय अनेक स्थलों पर करना असम्भव हो जाता है, वैसे तो ऋग्वेद के चौदह सूक्तों में सूर्य देवता का वर्णन प्राप्त होता है। फिर भी वह समस्त जीवों का प्राण होने के कारण सबका उत्पादयिता एवं पालयिता बतलाया गया है। यही कारण है कि यह सौर देवताओं में सर्वाधिक प्रत्यक्ष अनुभूयमान साकार देवता है और समस्त स्थावर–जंगम जगत् का आत्मा कहा गया है। तद्यथा –

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।

निरूक्तकार यास्क ने सूर्य का निर्वचन करते हुए कहा है कि –

सूर्यः सतेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा। तस्यैषा भवति।

इससे स्पष्ट होता है कि 'सृ' या 'षूङ्' धातु से सूर्य पद की व्युत्पत्ति की गयी है। निरूक्त के भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है –

....सूर्यः इति व्यक्तव्यम्। स पुनरयं भगकालात्सृतः सूर्यो भवति।

इसका अभिप्राय यह है कि उत्सर्पण से पहले भगकाल ऐसी उक्ति से पर काल जो उत्सर्पण क्रिया से युक्त है। उसी को उत्सर्पणत्वात् सूर्य कहा गया है। सूर्य देवता ज्वालामण्डित मण्डल के रूप में मित्र, जीवन तथा कार्य के महान् प्रेरक के रूप में सविता, पशुओं के पोषक तथा संरक्षण के रूप में पूषा, आकाश से पृथ्वी पर्यन्त मात्र तीन पाद–प्रक्षेपों में व्याप्त हो जाने के रूप में विष्णु, अपने आगमन से सौन्दर्य युक्त आभा को प्रादुर्भूत करने के कारण उषा, तथा प्रातः काल में सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् आदि अनेक नामों से अभिहित किये गये हैं।

सौर देवताओं में सूर्य का रूप इतना अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण है कि इसके प्राकृतिक, अर्थात् उदीयमान् स्वरूप को मंत्रों में कभी भुलाया नहीं गया है। मंत्रो में सूर्य के चक्षु का उल्लेख अनेक बार आया है।

"अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत"।

ऋग्वेद में स्वयं सूर्य को भी उतनी ही बार मित्र और वरूण का नेत्र कहा गया है और साथ में अग्नि को सूर्य का चक्षु बतलाया गया है– "चक्षुमित्रस्य वरूणस्याग्नेः"

और भी सूर्य की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि– हे सूर्यदेव! जिस समय आप वेगशाली घोड़े को रथ में जोतकर आकाशमार्ग से जाते हैं उस समय कोई भी जीव आप के पास नहीं आने पाता। आप की यह चिर–परिचित असाधारण ज्योति आप के साथ–साथ चलती रहती है। उसी ज्योति को धारण कर आप उगते हैं और उसी के साथ अस्ताचल को चले जाते हैं। तद्यथा–

"न ते अदेवः प्रदिवो निवासते यदेत
शेभिःपत्तैर रथर्यसि।
प्राचीन मन्यदनु वर्तते रज उदन्येन,
ज्योतिषा यासि सूर्य।।

शीघ्रगामी अश्वों के द्वारा सूर्य का स्वर्णिम रथ खींचा जाता है। सात अश्वों के अधिपति सूर्यदेव! हम लोगों के सम्मुख दृश्यमान ये सूर्यदेव आयाससाध्य पथ द्वारा एक सुदूरवर्ती गन्तव्य स्थान में उपस्थित होते हैं। ये श्येन पक्षी की तरह शीघ्रगामी होकर अपने उपासक के द्वारा प्रदत्त हव्य के उद्देश्य से अवतरित भी होते हैं। ये स्थिर यौवन तथा दूरदर्शी देव, निज रश्मि के माध्यम से सकल भुवन मण्डल में प्रभा विस्तारित करते हैं।

"आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्वियादीर्घयाथे।
रघुश्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषुगच्छन्।।

सूर्य देव का ऐसा ही देवत्व और महत्त्व है कि वे मानवों के दिवस कर्म समाप्त होने के साथ ही साथ ब्रह्माण्ड में विकीर्ण अपने अनन्त किरण जाल को भी समेट लेते हैं। तद्यथा–

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कृतोर्विततंसं जभार।
यदेतुयुक्त हरितः सद्यस्था दाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।।

सूर्य के वाहन की जो चर्चा की गयी है वह प्रतीकात्मक रूप से अन्धकार के उपर उदित हुयी ज्योति पुंज की ओर समस्त प्राणियों को आकृष्ट करने के लिए प्रेरित करती प्रतीत होती है।

वैदिक सविता, पूषा तथा अर्यमा, आदि देवों का व्यक्तित्व पौराणिक युग में सूर्य के साथ मिलकर एक हो गया है और इन्हीं सबने मिलकर पौराणिक देव मण्डल में एक शक्तिशाली तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूर्य देवता के रूप में जन्म दिया है। उनके इसी महत्त्व के कारण उसकी उपासना का एक पृथक् सम्प्रदाय ही चल पड़ा, और प्राचीन भारत में सैकड़ो वर्षो तक सहस्रों व्यक्ति उन्हें अज्ञानान्धकार के नाशक, विद्या के प्रकाशक विविध कामनाओं के पूरक, तथा स्वास्थ्य एवं नैरूज्य प्रदान करने वाले देवता के रूप में अपना इष्टदेव मानते रहे हैं। और भी "वेदमूर्तवतः पूषा पूजनीयः प्रयत्नतः" वाक्य से स्पष्ट है कि पूषा शब्द पूर्णतः सूर्य का वाचक है इसी प्रकार मत्स्यपुराण 79/6–7 श्लोक में भी पूषा एवं अर्यमा शब्द सूर्य के पर्यायवाची माने गये हैं। यहाँ पर सूर्य के लिए किये जाने वाले 'मन्दार–सप्तमी' नामक व्रत में विभिन्न नामो से सूर्य की उपासना का वर्णन मिलता है–

नमस्कारेण तद्वच्च सूर्यायेत्यानले दले।
दक्षिणे तद्वदकार्य तथाऽर्थम्वेति नैऋते।।
पूष्णेत्युत्तरतः पूज्यमानन्दायेतष्यत् परम्।।

पद्मपुराण में सूर्य की स्तुति 'त्वष्टा' के रूप में किया गया है – तद्यथा–

"सुवर्णरिता मित्रश्च पूषा त्वष्टा गभस्तिमान्।।

पद्म तथा विष्णुपुराण में सूर्य के लिए विवस्वान् तथा सविता शब्द विशेषण के रूप में आये हैं और उन्हें जगत् को प्रेरित करने वाला देवता बतलाया गया है।

नमो विवस्वते ब्राह्मन्भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे।।

वैदिक सूर्य, न केवल सूर्यमण्डल के भौतिक स्वरूप का परिचायक है अपितु धीरे–धीरे इसका दैविक स्वरूप पूर्ण हो जाता है। और पूर्ण विग्रहवान् देवता बन जाता है। पौराणिक साहित्य में वाल्मीकि रामायण के सर्वप्राचीन होने के कारण यहाँ पर सूर्य का भौतिक रूप, दैवी–रूप में संक्रान्त होता हुआ दिखाई देता है।

भागवतपुराण के 8/13, वायुपुराण के 84, तथा ब्रह्मपुराण का 89 अध्याय में सूर्य के विषय में बताया गया है कि सूर्य की संज्ञा नाम की पत्नी थी, जो त्वष्टा या विश्वकर्मा की पुत्री थी। यम–यमी नामक उनकी युग्म सन्तानें थी। सूर्य का तेज इतना प्रचण्ड था कि संज्ञा उन्हें अधिक दिनों तक सह न सकी। उसने अपने शरीर से अपने ही जैसी एक स्त्री बनायी, जिसकी स्वर्ण या छाया नाम पड़ा और उसने अपने बच्चों की देखभाल करने तथा पति को संतुष्ट करने के लिए कहकर वन में जाकर बडवा के रूप में तपस्या करने लगी। छाया से शनि तथा मनु नामक दो सन्तानें हुयी, सूर्य को पहले तो कुछ पता न था किन्तु बाद में उन्हें छाया (स्वर्णा) के नीच प्रकृति तथा बच्चों के प्रति किये गये व्यवहार के कारण उन्हें संज्ञा होने में संदेह हो गया। सूर्य ने ध्यानस्थ होकर देखा, तो संज्ञा वन में तपस्या कर रही थी। वे वहाँ पहुँचे और दो अश्वनी कुमारों को उत्पन्न किया। दोनों कुमारों के साथ संज्ञा अपने पिता त्वष्टा के पास पहुँची। और वहाँ संज्ञा ने सूर्य के तेज को सहन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इस पर देवशिल्पी त्वष्टा ने सूर्य को शाण पर चढ़कर उन्हें इधर–उधर से काँट–छाँट कर अपेक्षाकृत छोटा, गोल, तथा कम तेजस्वी बना दिया। सूर्य के कटें–छटें अंश से विष्णु का चक्र तथा शिव का त्रिशूल निर्मित हुआ। सूर्य का तेज अब जीव लोक के लिए सुसह्य हो गया। विष्णुपुराण में इसका विवरण निम्नवत् प्राप्त होता है।

सूर्यस्य पत्नी संज्ञाभूच्च तनया विश्वकर्मणः।
मनुर्यमो यमी चैव तदपत्न्यानि वै मुने।।
असहन्ती तु साभर्तुस्तेजश्छायां युयोज वै।
भर्तृशुश्रूषणेऽरण्ये स्वयं च तपसे ययौ।।
छाया संज्ञा ददौ शापं यमाय कुपिता तदा।
तदानेयमसौ बुद्धिरित्यासीद् यमसूर्ययोः।।
त्वष्टैव तेजसा तेन विष्णोश्चक्रम कल्पयत्।
त्रिशूलं चैव शर्वस्य शिबिकां धनदस्य च।।

इसी प्रकार विष्णुपुराण में सूर्य के शारीरिक विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है सत्राजित की स्तुति से प्रसन्न होकर सूर्यदेव नीचे पृथ्वी पर आते हैं और तब वह उन्हें छोटे आकार में अत्यन्त उज्ज्वल किंचित ताम्रवर्ण तथा पीले वर्ण वाले पुरूष के रूप में दिखते हैं–

ततस्तम् आताम्रोज्ज्वलं ह्रस्ववपुषम् ईषद्।
आपिंगलनयनम् आदित्यमाद्रक्षीत्।।

सूर्य का यह दैवी रूप महाभारत के अनेक प्रसंगों में प्रस्फुटित हुआ है। यहाँ वे एक भक्तवत्सल' उदार तथा दानी देवता के रूप में दिखाई देते हैं। वन पर्व में जब युधिष्ठिर अपने जीवन–यापन के लिए सूर्य की स्तुति करते हैं तब सूर्य देवता प्रसन्न होकर उन्हें एक अक्षय–पात्र प्रदान करते हैं। जिससे पाण्डव यथेष्ठ भोजन प्राप्त करते हैं।

महाभारत के विराट पर्व में दुरात्मा कीचक से त्रस्त द्रौपदी जब सूर्य की स्तुति करती है, तो सूर्य देव उसकी रक्षा के लिए एक राक्षस नियुक्त कर देते हैं। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में बताया गया है कि सूर्य पूर्व समुद्र से उत्पन्न तथा पश्चिम समुद्र में लीन होते हैं। संस्कृत–साहित्य में जल को नारा तथा उसी से उत्पन्न एवं उसी में तिरोहित होने के कारण सविता को सूर्य नारायण कहा जाता है। तथा उन्हीं को योगी, सत्त्वमूर्ति तथा विभावसु आदि नामों से भी स्तुत किया गया है –

"भूत्वा नारायणो योगी सत्वमूर्तिर्विभावसुः"।।

निष्कर्ष– उपर्युक्त विवेचन से हम कह सकते हैं कि वेदों में गायत्री मन्त्र का उपास्य देवता सविता, जो जगत् का प्रसविता बतलाया गया है, वहीं पुराणों में पूषा, अर्यमा, वरूण, विवस्वान् तथा सूर्य के नाम से स्तुत किया गया है, वैदिक देवताओं के स्वरूप का चिन्तन करते हुये प्रो0 क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ "वैदिक रिलीजन" में इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डाला हैं, उनके अनुसार सविता एक शाश्वत् गतिमान् देवता है, दिवसकाल में वह मित्र के नाम से तथा रात्रिकाल में वही वरूण के नाम से अभिहित किया जाता है, वही ऋतु का अनुगामी शुभाशुभ कर्म द्रष्टा, प्रेरक देव के रूप में समस्त भुवनों का परिभ्रमण करता है तथा वही समस्त भुवनों में व्याप्त होनें के कारण 'विष्णु' नाम से जाना जाता है। इस प्रकार एक ही वैदिक सवितृदेवता का अनेक नामों से अभिधान किया जाना निरूक्तकार यास्क के दैवतसिद्धान्त "माहाभाग्यात् एक आत्मा बहुधा स्तूयते" के सर्वथा अनुकूल तथा शास्त्र सम्मत है।

सन्दर्भ–

1. ऋग्वेद– 1/115/1।
2. निरूक्त– 12/14।
3. निरूक्त पर निघण्टु भाष्य – 12/14 ।
4. ऋग्वेद– 5/40/8 ।
5. ऋग्वेद– 1/115/1 ।
6. ऋग्वेद– 10/37/3 ।
7. ऋग्वेद– 5/45/9 ।
8. ऋग्वेद– 1/115/4 ।
9. मत्स्य पुराण– 79/6 – 77 । गीता प्रेस, गोरखपुर
10. पद्म पुराण – 76/35 ।
11. विष्णुपुराण – 3/11/39 । गीता प्रेस, गोरखपुर – 1993
12. विष्णुपुराण – 3/2/2 । गीता प्रेस, गोरखपुर – 1993
    विष्णुपुराण – 3/2/3 । गीता प्रेस, गोरखपुर – 1993
    विष्णुपुराण – 3/2/11 । गीता प्रेस, गोरखपुर – 1993
13. विष्णुपुराण – 4/13/95 ।
14. महाभारत् – वनपर्व – 3/72 ।
15. महाभारत् – विराट पर्व – 15/19–20 ।
16. मत्स्यपुराण – 166/1 । गीता प्रेस, गोरखपुर

●●●●

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
मा0गा0का0वि0,वाराणसी

वैदिक ग्रंथों का काल-निर्धारण

डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव

वैदिक ग्रंथों के काल पर वैदिक विद्वानों के मध्य उस समय व्यावहारिक मतैक्य हो गया था जब इस उद्देश्य के लिए पुरातत्व के उपयोग के विषय में मुश्किल से ही सोचा जाता था। पिछले लगभग चालीस वर्षों में पाकिस्तान तथा उत्तरी भारत में हुए पुरातात्विक उत्खननों के परिणामस्वरूप गांधार शवाधान, धूसर मृद्भांड तथा चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृतियाँ प्रकाश में आईं, जो काल तथा क्षेत्र की दृष्टि से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक लोगों से संबद्ध की जा सकती हैं। ऋग्वैदिक काल के लोग शवाधान तथा शवदाह दोनों ही प्रथाओं का अनुसरण करते थे।[1] एक संपूर्ण मंत्र ही भाव गाड़ने की प्रथा को समर्पित है। ऋग्वेद के प्राचीनतम् शागों में भी शवाधानों का उल्लेख है। इसका तात्पर्य ऋग्वैदिक जनों तथा उन गांधार शवाधानों के मध्य संबंध हो सकता है, जिनका प्रारंभ 1000 ई. पू. से पहले स्वीकार किया जाता है। कुछ पुरातत्ववेत्ता सिकोड़कर रखे गए शवोंवाले शवाधानों को भारोपीय संस्कृति की एक विशेषता मानते हैं। शव जलाने की प्रथा का मध्य यूरोप में उत्तर कांस्य–युग में प्रचलन था, जिसका काल 1250 ई. पू. से 750 ई. पू. माना जाता है। इस संस्कृति के लोगों को भारोपीय स्वीकार किया जाता है। अतएव, यह संभव है कि इस प्रथा का प्रचलन भारत में लगभग 1200–1000 ई. पू. में हुआ होगा, परन्तु इसने शवाधानों की प्रथा का स्थान ले लिया।

धूसर मृद्भांड गांधार शवाधानों से संबद्ध हैं, और यह विश्वास किया जाता है कि धूसर मृद्भांड प्रयोग करने वाले भारोपीय उत्तरी ईरान में लगभग 1900 ई. पू. में बड़ी संख्या में प्रकट हुए थे।[2] यूनान तथा अनातोलिया में भी धूसर मृद्भाण्ड संस्कृतियों के विद्यमान होने की हमें सूचना है। जम्मू में मांडा के उत्खनन में धूसर मृद्भांड प्राप्त हुए हैं, जिनमें कटोरे तथा थालियाँ बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। जब हम भारत में उत्तर–पश्चिम से दक्षिण–पूर्व की ओर जाते हैं, तो हम देखते हैं कि इस मृद्भांड के ठीकरे क्रमशः कम होते जाते हैं। इस प्रकार धूसर मृद्भांड संस्कृति के 109 स्थल पंजाब में, 46 हरियाणा में, 24 उत्तर–प्रदेश में तथा 8 राजस्थान में विदित हैं। इस धूसर मृद्भांड संस्कृति को 1700–1000 ई. पू. का काल दिया जाता है। यह काल लगभग वही है जो अन्य आधारों पर ऋग्वेद के संदर्भ में सुझाया जाता है।

भाषा विज्ञान तथा अभिलेखों के आधार पर ऋग्वेद की तिथि निर्धारित की गई थी तथा इसके विभिन्न स्तरों को शैली एवं सामाजिक विकास की स्थितियों के माध्यम से पहचाना गया था। वैदिक ग्रन्थों का जीवन–पर्यंत अध्ययन करने वाले फ्रांसीसी विद्वान लुई रेनू ने मैक्स म्यूलर के उस मत को स्वीकार किया, जिसके अनुसार आर्य 15वीं तथा 16वीं भाताब्दी ईस्वी पूर्व में भारत में आए, तथा उन्होनें ऋग्वेद के मंत्रों को भी लगभग यही तिथि प्रदान की।[3] यह संभव है कि कुछ आर्य भारत में थोड़ा पहले आए थे। हम जानते हैं कि उन हित्ती लोगों की संस्कृति में कुछ योरोपीय तत्व पाए जाते हैं, जिन्होनें अनातोलिया अथवा वर्तमान टर्की पर लगभग 2000 ई. पू. में शासन किया था। इनके अतिरिक्त, सिंधु सभ्यता के नगरीकरण के काल का अन्त लगभग 1700 ई. पू. अथवा इससे कुछ पहले हो गया था। यद्यपि, अपने वर्तमान रूप में ऋग्वेद 5 शताब्दियों से भी अधिक की सामाजिक एवं भौतिक विकास की अनेक स्थितियों को प्रदर्शित करता है, तथापि इसमें वर्णित पशु–चारण, जिसकी पूर्ति कृषि द्वारा की जाती थी, हड़प्पा–संस्कृति के नगरीकरण से कदापि अनुकूलता प्रदर्शित नहीं करता।

कुछ महत्वपूर्ण अभिलेख भारोपीयों के बिखराव पर प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित इंद्र, वरुण तथा नासत्यों (अश्विनों) के नाम पश्चिमी एशिया के लगभग 1350 ई. पू. के उन अभिलेखों में प्राप्त होते हैं, जिनमें हित्तियों तथा भित्तानियों के मध्य हुई संधि का वर्णन है। लगभग 1400–1200 ई. पू. के यूनानी बोली में लिखे गए कुछ छोटे अभिलेख क्रीट एवं यूनान की मुख्य भूमि में प्राप्त हुए हैं। इसके आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि यूनान में भारोपीय संस्कृतिकरण लगभग 1600 ई. पू. में प्रारंभ हुआ। इस सामान्य संदर्भ में आर्यों का अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में भारत–आगमन लगभग 1600 ई. पू. अथवा इससे कुछ पहले माना जा सकता है, और इसी प्रकार ऋग्वेद की रचना का प्रारंभ भी लगभग 1500 ई. पू. स्वीकार किया जा सकता है।

यद्यपि ऋग्वेद को एक पुस्तकालय कहा जाता है न कि एक पुस्तक, तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि इसके प्राचीनतम भाग ऋग्वेद के बाद के संकलनों से पूर्व के हैं।[4] अथर्ववेद का संकलन संभवतः ऋग्वेद के बहुत बाद में हुआ था, क्योंकि भाषायी स्तर अपेक्षाकृत बाद का है, और इसमें उपलब्ध मिथकों एवं कल्पनाओं के समान ही इसमें वर्णित सामाजिक व भौगोलिक विवरण अधिक विकसित अवस्था के द्योतक हैं।[5] इसमें उपलब्ध आदिम अनुष्ठानों के बावजूद इस ग्रंथ में कृषि जीवनयापन के एक प्रमुख साधन के रूप में प्रतीत होती है। अनेक चित्रित धूसर मृद्भांड–संस्कृति की बस्तियों[6] के आधार पर यह माना जा सकता है कि कृषि लगभग 1000 ई. पू. में प्रचलित हुई होगी। यजुशाखा के ग्रंथों के लिए भी समान तिथि का सुझाव दिया जा सकता है, क्योंकि इनमें उपलब्ध अनुष्ठान कृषि और इसके द्वारा उत्पादित अनाजों के अनुष्ठानों में

प्रयोग की पूर्व कल्पना करते हैं। वर्तमान जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गंगा द्वारा विभाजित क्षेत्र तथा गंगा के ऊपरी तटवर्ती क्षेत्र में, जहाँ यजु–ग्रंथों एवं ब्राह्मण व उपनिषद–ग्रंथों का संकलन किया गया था, में लोहे का प्रयोग 1000 ई. पू. के पहले नहीं ले जाया जा सकता। अनेक ग्रंथों को यह धातु ज्ञात थी। रेनू के विचार में ब्राह्मण–ग्रंथों को 10वीं तथा 7वीं शताब्दी ई. पू. के मध्य रखा जा सकता है। कीथ महोदय, ब्राह्मणों के लिए 800 से 600 ई. पू. की तिथि निर्धारित करते हैं।[7] सामान्यतः ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की अन्तिम तिथि 600 ई. पू. से 500 ई. पू. के रूप में दी जाती है,[8] और 800 ई. पू. की तिथि प्राचीनतम ब्राह्मणों की रचना की तर्कसंगत अधिकतम तिथि मानी जाती है। इन प्राचीनतम ब्राह्मणों में शतपथ ब्राह्मण तथा प्रारम्भिक 5 अध्यायों को छोड़कर ऐतरेय–ब्राह्मण सम्मिलित नहीं है। शतपथ ब्राह्मण सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से समृद्धतम है, परन्तु यह ग्रंथ वैदिक से वैदिकोत्तर संस्कृति में परिवर्तन के काल का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। मैक्डोनेल एवं कीथ प्राचीनतम प्रमुख उपनिषदों को लगभग 500 ई. पू. की तिथि प्रदान करते हैं। रेनू भी उपनिषदों के लिए बहुधा सुझाई गई 500 ई. पू. की तिथि को तर्कसंगत स्वीकार करते हैं।[9] इस प्रकार ऋग्वेद के बाद संकलित वैदिक ग्रंथों को लगभग 1000 ई. पू. का सामान्यतः स्वीकार किया जाता है, और विन्टरनित्स द्वारा 500 ई. पू. की तिथि को वैदिक साहित्य के संकलन की अन्तिम तिथि माना गया है, परन्तु यह विद्वान् लगभग 2000 ई. पू. को वैदिक साहित्य के प्रारंभ की तिथि स्वीकार करने के पक्ष में हैं। परन्तु, वे प्राचीनतम् सीमा के संबंध में बहुत दृढ़ नहीं हैं, और मानते हैं कि वैदिक संस्कृति को कम से कम द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. तक ले जाया जा सकता है। वैदिक ग्रंथों की सम्पूर्ण श्रृंखला, जिसमें प्रमुख उपनिषद भी सम्मिलित हैं, उन पालिग्रंथों से पूर्ववर्त्ती हैं, जिनमें वैदिक विचारों एवं अनुष्ठानों की तीव्र आलोचना की गई है, और जिनका संकलन 5वीं शताब्दी ई. पू. अथवा थोड़ा बाद में किया गया था। स्पष्टतः इन तथ्यों का अवलोकन करते हुए वैदिक साहित्य को लगभग 1500 ई. पू. और 500 ई. पू. के मध्य रखना पड़ेगा। परन्तु सब मिलाकर वैदिक शोधों से प्राप्त निष्कर्ष ऋग्वेद की सामान्यतः 1500 से 1000 ई. पू. की तिथि की ओर संकेत करते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय, ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक अन्वेषण, उत्तर वैदिक ग्रंथों को लगभग 1000 से 500 ई. पू. का निर्धारित करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्तर वैदिक संस्कृति की लोहे का प्रयोग करने वाली चित्रित धूसर मृद्भांड–संस्कृति से पहचान के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध हैं।

सन्दर्भ–

1. वैदिक इंडैक्स, जिल्द 1, 8–9, जिल्द 2, 175–76.
2. ज्यॉर्ज कार्डोना तथा अन्य, इंडो–योरोपीयन एंड इंडो–योरोपीयन्स, पृ. 200.
3. रेनू, वैदिक इंडिया, पृ. 10.
4. के. सी. चट्टोपाध्याय, स्टडीज़ इन वैदिक एंड इंडो–इरानियन रिलिजन एंड लिटरेचर पृ. 16,24.
5. रेनू, वैदिक इंडिया, पृ. 23.
6. अब तक प्राप्त उन प्राचीन स्थलों की संख्या 719 है, जहाँ से चित्रित धूसर मृद्भांडों के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। (स्रोत– भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग)
7. ई. जे. राप्सन तथा अन्य, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द 1, पृ. 131–2.
8. पद्मा मिश्र, इवोल्यूशन ऑफ द ब्राह्मण क्लास, वाराणसी, 1978, पृ. 43.
9. रेनू, वैदिक इंडिया, पृ. 38.

●●●●

*प्रवक्ता–इतिहास एवं एन.सी.सी. अधिकारी,
श्री सिंहेश्वरी इण्टर कालेज, तेतरी बाजार,
सिद्धार्थनगर।

व्याकरणशास्त्रे सन्धि विचारः

उमाकांत शुक्ल*

सन्धिशब्दो व्याकरणशास्त्रे संहितापरपर्य्यायः स्वीकृतोऽस्ति। एवं साहित्यशास्त्रे पञ्चसन्धयः नाटकगता आलङ्कारिकाः स्वीकुर्वन्ति।

तथा प्रतिपत्पूर्णिमायाः अथवा अमावस्यायाः मध्यभागः सन्धिः व्यवह्रियते। उक्तञ्च अमरसिंहेन "स पर्वसन्धिः प्रतिपत्पंचदश्योर्यदन्तरम्" इति। दुर्गेऽपि अभिहितम्– "प्रतिपत्पञ्चदश्योस्तु सन्धिः पर्वः प्रदिक् ककुप्" इति। अत एव यज्ञगतं "सन्धिमभितो यजेत्" इति वाक्यं सङ्गच्छते।

नीतिज्ञानां षड्गुणेष्वेकः सन्धिनामको गुणोऽपि पुराणेषु दृश्यमानोऽस्ति उक्तञ्च अमरसिंहेन– "सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः। षड्गुणा "इति। तथा च विश्वे सन्धिशब्दो युग्मार्थकोऽपि निर्णीतोऽस्ति तथाहि– "सन्धिर्भेदे सुरूङ्कायां भगे सङ्घटनेऽपि च इति।

सम्प्रति सन्धिशब्दार्थं प्रदर्श्य व्याकरणशास्त्रे सन्धिसंख्यां मत्वा यानि मतानि तानि वर्णयामि। अष्टाध्यायाः रचनाकाराः पाणिनयः "संहितायाम्" इत्यधिकारगता संहिता किमिति जिज्ञासायां "परः सन्निकर्षः संहिता" इत्यूचुः। यद्यपि पर शब्दोऽनेकार्थकः। तदुक्तं मेदिन्याम्– "परः श्रेष्ठारि दूरान्योत्तरे क्लीबं तु केवले" इति। तथापि शब्दानुशासनप्रस्तावात्सन्निकर्षपदेन वर्णसन्निकर्षस्यैव ग्रहणम्। तथा च विशेष्ये सन्निकर्षे परार्थदिग्देशाद्यर्थानां सम्बन्धायोगात् 'संहिता' इति महासंज्ञायाञ्च श्रेष्ठार्थक एवात्र परशब्दो गृह्यते सन्निकर्षे श्रेष्ठत्वञ्चातिशयित्वमेव स्वीकृतं ग्रन्थकारैः अत एव सिद्धान्तकौमुद्यः वृत्तौ श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितेनोक्तम्– "वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहिता" इति।

यद्यपि वर्णानां नित्यत्वपक्षे आविर्भावस्य जन्यत्वपक्षे उत्पत्तेश्च एकवर्णवृत्तित्वान्न युगपद् द्वावुच्चारयति। तदुक्तं भाष्ये– "गौरिति यावद् गाकारे वाग् वर्तते नौकारे उच्चरितप्रध्वंसित्वात्" इत्यादि। एवञ्च युगपद्वर्णद्वयाभावात्सन्निकर्षो न सम्भवति तथापि प्रक्रिया निर्वाहाय बुद्धिपारिकल्पितः सन्निकर्षो ग्राह्यः। तदुक्तं भाष्ये– "बुद्धिविषयमेव वर्णानां पौर्वापर्य्यम्" इति। सन्निकर्षश्चात्रार्द्धमात्राधिक कालाव्यवायेन पौर्वापर्य्यरूपमेव, न तु संयोगः तस्य द्रव्यधर्मत्वात्। पूर्ववर्णस्य स्थानादिव्यापारादावाविर्भूते पूर्ववर्णे उत्तरवर्णस्य स्थानादिव्यापारानन्तरमुत्तरवर्णस्याविर्भाव इति वर्णयोर्मध्येऽर्द्धमात्राव्यवायो नियत इत्यत उक्तम्– "अर्धमात्राधिककालव्यवायराहित्येन पौर्वापर्य्यं संहिता" इति।

नन्वेवम्–

'अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता। शिष्याणामुपदेशार्थां वृत्तिरिष्टा विलम्बिता।। इति।।

द्रुतवृत्तावेवार्द्धमात्राधिककालाव्यवायेनोच्चारणं स्यात्। मध्यमविलम्बितयोस्तु मात्रादिकालव्यवायेनैवोच्चारणमिति तत्र संहिता कार्य्यं न स्यादिति चेन्न, सर्वासु वृत्तिषु मध्यवर्त्ती कालोऽर्द्धमात्रात्मक एव, किन्तु वृत्तयो वर्णज्ञानकालभेदकाः। यद्वा यस्यां वृत्तौ यावत्कालव्यवाय आवश्यकस्ततोऽधिककालव्यवायराहित्येन पौर्वापर्य्यमेव संहितेति नोक्तदोषावकाशः।

संहिताधिकारश्च "संहितायाम्" इत्यत आरभ्य "पारस्करप्रभृतीनि च०" इत्यन्तम्, "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" इत्यत आरभ्य "अ अ" इति यावत् स्वीकृतोऽस्ति।

सम्पूर्वकाद् दधातेर्भावे क्ते भावक्तान्तस्य नपुंसकत्वेऽपि "संहितायाम्" इति निर्देशादेव स्त्रीत्वे टापि संहिताशब्दः सिध्यतिसंहितासन्धिरितिपर्यायः।

'सम्पूर्वकाद् धाधातोः'। 'उपसर्गे घोः किः। इति किप्रत्येये "सन्धा" इति। निष्कृष्टोऽर्थश्च कस्यचिद्वर्णस्योच्चारणानन्तरमर्धमात्राधिककालाव्यवधानेन यद्वर्णान्तरोच्चारणं तत्संहितयोच्चारणमित्युच्यते। पूर्वोक्तयोरूभयोः षष्ठाष्टमाध्यायस्थयोः संहिताधिकारयोर्यावन्ति सूत्राणि सन्ति तानि विधीयमानानि कार्याण्यपि सन्धिशब्देनोच्यन्ते, साध्येऽपि साधनत्वोपचारात्। सन्धेर्विभागश्च वैयाकरणनिकाये पञ्चधा प्रसिद्धः। तत्र कति सन्धयः शास्त्रप्रमाणगम्या इति चिन्तायामुच्यते– याज्ञवल्क्यशिक्षायां पदपाठानन्तरं सप्तमसूत्रे सन्धिश्चतुर्विधो भवति–लोपागमौ, वर्णविकारः, प्रकृतिभावश्चेति।

ऋग्प्रातिशाख्यस्य भाष्ये "चतुः प्रकाराः सन्धयो भवन्ति – द्वयोः स्वरयो; द्वयोर्व्यञ्जनयोः, व्यञ्जनस्वरयो; स्वरव्यञ्जनयोरिति। अत्र यदि "प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः इति सूत्रोक्तो याज्ञवल्क्यशिक्षायां चोक्तः प्रकृतिभावोऽपि ग्रहीष्यते तदा पञ्चसन्धयो भवन्ति।

किञ्च कातन्त्रपर्यालोचनया सन्धौ पञ्चपादा उपस्थापिताः सन्तीति पञ्चपादसन्धिरित्यत्र पादशब्दलोपे पञ्चसन्धिरिति

श्री रामाज्ञापाण्डेयाः त्रय एव सन्धय इति स्वीकुर्वन्ति। तथाहि– "वस्तुतस्तु अस्माकं मते सृष्टिस्थितिसंहारभेदात् त्रिविधः सन्धिः"। तत्र "आद्गुणः" "वृद्धिरेचि" "हशि च" इत्यादि– सूत्रैर्वर्णानामधिकमात्रत्वसम्पादकसन्धिः, सृष्टिसन्धिपदेन व्यवह्रियते। प्रकृतिभावस्तु स्थितिपदेन गृह्यताम्। "इको यणचि" "एचोऽयवायावः" "लोपः शाकल्यस्य" इत्यादिभिर्निष्पाद्यः सन्धिः संहारसन्धिपदेन बोध्यः। यतो हि "इग् यणः सम्प्रसारणम्" इति सूत्रप्रामाण्याद् यदा यणोऽर्धमात्रिकाः संप्रसृता भवन्ति तदा इको रूपं एकमात्रं धारयन्ति। तथा च इको मूलं यणेव विद्यते। एवं स्थितौ

"इको यणचि" इत्यादिसूत्रबलाद् यदा इकः स्वकारणभूते यणि लीयन्ते तदा संहारसन्धित्वेन व्यवहार इति।

तथा च कौमुद्यां भट्टोजिदीक्षितेन अच्सन्धिः, प्रकृतिभावसन्धिः, हल्सन्धिः, विसर्गसन्धिः, स्वादिसन्धिश्चेत्युक्तम्। एवञ्च अचा सह संहितायां यद्रूपान्तरप्राप्तिः स अच्सन्धिरित्युच्यते। अचोऽचा सह संहितायां यत् प्लुतप्रगृह्ययोः स्वरूपेणावस्थानं तत्प्रकृतिभाव इत्यभिधीयते। हलो हलाऽचा वा संहितायां यत्कार्य्यं तद् हल्सन्धिशब्देन व्यवहृयते। विसर्गस्य हला सह संहितायां यत्कार्य्यं तद्विसर्गसन्धिशब्देन व्यवहारविषयः। स्वादिप्रत्ययविकारमादाय यत्संहिताकार्य्यं तत्स्वादिसन्धिरिति निगद्यते।

पूर्वं कस्यचिद्वर्णस्योच्चारणानन्तरमर्धमात्रा-धिककालाव्यवधानेन यदुच्चारणं तत्संहितयोच्चारणमित्युच्यते इत्युक्तम्।

तत्र मात्रापदेन कियान् कालो गृह्यते इत्याकाङ्क्षायाम् "कालेन यावता पाणि पर्य्येति जानुमण्डले। सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता" इति शब्दस्तोममहानिधिः।

अक्षिपक्ष्मणोऽधः पतने यावान् कालः सा मात्रा, अङ्गुष्ठतर्जन्योर्मध्ये काचन नाडी प्रस्फुरति। तस्या एकप्रस्फुरणे यावान् काल सा मात्रेति सिद्धहेमवृत्तिः इति शम्।।

सन्दर्भ–

१. अमरकोश – १/४/७
२. विश्वः – ८३/१५
३. पा० सू० – ६/१/७२
४. पा० सू० – १/४/१०९
५. सि० कौ० मू० – पृष्ठ संख्या – ३
६. महाभाष्यम् – सूत्र – १/४/१०८
७. महाभाष्यम् – सूत्र – १/४/१०८
८. पा० सू० – ६/१/७२
९. पा० सू० – ६/१/१५७
१०. पा० सू० – ८/४/६८
११. पा० सू० – ३/३/९२
१२. ऋग् प्रातिशाख्य – प० २, सू० ८
१३. ऋग् प्रातिशाख्य – प० २, सू० ५१
१४. व्याकरणदर्शन भूमिका, पृष्ठ संख्या – ४६
१५. पा० सू० – ६/१/८७
१६. पा० सू० – ६/१/७७
१७. पा० सू० – ६/१/७८
१८. पा० सू० – ८/३/१९

●●●●

*श्री काशी विश्वनाथ वेद विद्यालय, मीरघाट, वाराणसी

आमन्त्रण

भारत विकास संगम का महासम्मेलन

आत्मीयजनों

भारत विकास संगम का तृतीय महासम्मेलन 23 दिसम्बर 2010 से 01 जनवरी 2011, गुलबर्गा, कर्नाटक में होने जा रहा है। इसके पूर्व पहला सम्मेलन 20 नवम्बर, 2004 को वाराणसी में हुआ था, इसमें देश भर के 116 जिलों से 64 बहुविध रचनाधर्मी एवं आंदोलनात्मक प्रकल्पों से 372 प्रतिनिधियों ने भाग लिया थ जो विभिन्न विचारधाराओं से जुड़े प्रतिनिधि थे। दूसरा सम्मेलन जनवरी 2008, मिर्जापुर जिले के चुनार में हुआ था इस सम्मेलन में 90 संगठनों, संस्थाओं एवं प्रकल्पों से जुड़े 550 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसी क्रम में भारत विकास संगम का तीसरा सम्मेलन गुलबर्गा, कर्नाटक में वृहद् रूप में होने जा रहा है जिसमें देश भर के 5000 संस्थाओं, संगठनों एवं प्रकल्पों से जुड़ने लोगों की भागेदारी होगी। देश के हर शहर एवं गाँव से जुड़े लोगों की आने की सम्भावना है यह संख्या लगभग 12 लाख के लगभग है तथा भारत विकास संगम का उद्देश्य देश के सज्जन शक्तियों में संवाद कायम करने की, आपस में सहमति बढ़ाने की तथा सहकार्य करने की कोशिश है तथ साथ ही सज्जन शक्तियों को संगठित करने के साथ–साथ उनमें भारत परस्त एवं गरीब परस्त नीतियों के प्रति सहमति बनाया जा सकेक भारत विकास संगम का लक्ष्य हैं श्री के0एन0 गोविन्दाचार्य जी जिनके संयोजकत्व में पूर्व के दो सम्मेलन हुए हैं उनका मानना है कि संयम की संस्कृति से ही समाज में आत्मीयता, समरसता और समृद्धि का विस्तार होगा। परिवार संस्था और समाज में पारस्परिकता की भावना से ही सर्वजन सुखी हो सकेगा। उसके लिए अभौतिक जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठा देनी ही होगी। ऐसे सभी सकारात्मक पहलुओं को भारत विकास संगम के माध्यम से यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया जा रहा है कि ये सब बातें केवल किताबी होकर न रह जाए।

भारत विकास संगम का तृतीय सम्मेलन दस दिवसीय है जिसमे विकास प्रदर्शनी, मातृशक्ति संगम, ज्ञानशक्ति संगम, युवा शक्ति संगम, उद्योग शक्ति संगम, आरोग्य शक्ति संगम, ग्राम एवं कृषि शक्ति संगम, धर्म शक्ति संगम सेवा शक्ति संगम एवं भारत कुम्भ, प्रत्येक दिन क्रमवार विषयों पर विचार तथा जो सहीरुप में कार्य कर रहें हैं। उनके कार्यों का चित्रण आदि होगा। इस दस द्विवसीय सम्मेलन श्री के0एन0 गोविन्दाचार्य जी के मार्गदर्शन तथ श्री बसवराज पाटिल के संयोजकत्व में होने जा रहा है। जो लोग भारत विकास संगम विभिन्न क्षेत्रों में देश, समाज की सेवा कर रहे हैं या जिनके अंदर उत्कठा है कुछ कर गुजरने की तो वो आये और ज्यादा से ज्यादा लाभान्वित हो तथ वे अपने क्षेत्र, गाँव शहर, कस्बा, जिला में उसे मूर्तरूप दे सकने की प्रेरणा पैदा कर सके, इसी उद्देश्य से आज सभी महानुभावों से आग्रह है कि भारत विकास संगम तृतीय सम्मेलन में आयें और देखें।

सम्पर्क– संजय शुक्ला (प्रान्त संयोजक)

मो. : 09455658425

एक समृद्ध और सुसंस्कृत युग के निर्माण में आप हमारे सहयात्री बनें!

भारतीय वैदिक परम्परा में पर्यावरण संरक्षण

डॉ. धीरज कान्त 'धीरज'

पृथ्वी पर व्याप्त पर्यावरण सर्वोत्तम वरदान है। पर्यावरण वह पक्ष है, जिसने पृथ्वी को जीवित जगत् का गौरव प्रदान किया है। इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी की तरह अगणित ग्रह हैं, परन्तु प्रामाणिक जानकारी के अनुसार केवल पृथ्वी पर ही जीवन का विकास पाया गया है। पर्यावरण का तात्पर्य पृथ्वी के जैव जगत् को आवृत्त करने वाले भौतिक परिवेश से है।

पर्यावरण परिस्थितियों एवं पदार्थों का समुच्चय है, जो जीवधारियों के पालन–पोषण में सहायक होता है। इस तरह अंतरिक्ष, आकाश, सूर्य, चन्द्र, दिन, रात, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, वन, वनस्पतियाँ, नदियाँ, झीलें, समुद्र, पहाड़, वृक्ष, औषधियाँ, खेती तथा मनुष्य सहित पशु–पक्षी, कीट–पतंग, अन्न, वस्त्र, शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुयें सभी पर्यावरण की समुच्चय हैं।[1]

पर्यावरण संरक्षण हेतु भारत सहित विश्व के विभिन्न देशों में प्राचीन काल से ही प्रयास किये जाते रहे हैं। जहाँ भारत में पर्यावरण संरक्षण के प्रति संचेतना आदिकाल से रही है। वहीं दूसरी तरफ विश्व का ध्यान वस्तुतः पर्यावरण अवनयन से होने वाले नुकसान के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिगत होता है।

पर्यावरण के प्रति संरक्षण भारतीय जीवन शैली में मौलिक रूप से अन्तर्निहित है। वैदिक काल से सृष्टि को संतुलित रखने पर जोर दिया जाता रहा है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में सृष्टि की संकल्पना समत्व पर आधारित मानी गयी है। कल्याणकारी संकल्पना, शुद्ध आचरण, निर्मल वाणी एवं सुनिश्चित गति क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की मूल विशेषताएँ मानी गयी हैं। पर्यावरण संतुलन भी इन्हीं गुणों पर समाश्रित है।

वेदों में जल, वायु, अग्नि, वनस्पति, अंतरक्षि, आकाश आदि के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। तत्वदर्शी ऋषियों के निर्देशों के अनुसार जीवन व्यतीत करनें पर पर्यावरण असंतुलन की समस्या उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। जल जीवन का प्रमुख तत्त्व है इसलिए वेदों व उनके संदर्भों में उसके महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद (1.23.248) में जल पर विश्व की पहली कविता है, जिसमें 'अप्सु अंतः अमृतं, अप्सु योशजं' के रूप में जल का वैशिष्ट्य बताया गया है। अर्थात् जल में अमृत है, जल में औषधि–गुण विद्यमान रहते हैं। अस्तु, आवश्यकता है जल की शुद्धता–स्वच्छता को बनाये रखने की।[2]

अथर्ववेदीय पृथ्वीसूक्त में 'शुद्धा न आपस्तन्वेक्षरंतु' (अथर्ववेद, 12.1.30) द्वारा जल की शुद्धता को स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक माना गया है।[3]

निस्संदेह जल–संतुलन से ही भूमि में अपेक्षित सरसता रहती है, पृथ्वी पर हरीतिमा छायी रहती है, वातावरण में स्वाभाविक उत्साह दिखाई पड़ता है एवं समस्त प्राणियों का जीवन सुखमय तथा आनंदमय बना रहता है– 'वर्शेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सानो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि' (अथर्ववेद, 12.1.52)।

जल के साथ–साथ सभी ऋतुओं को अनुकूल रखने का वर्णन भी वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में स्पष्टतया व्यंजित है–'उतो स मह्यं इदुंभि युक्तान् शट् सेशिधत्' (यजुर्वेद, 36.18) में 'मित्रस्याहं भक्षुसा सर्वाणि–भूतानि समीक्षे' का संकल्प व्यक्त है। अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता का परिचय देना ही जीवन का सही लक्षण है। आज जिसे पारिस्थितिकी–तंत्र कहते हैं, उसमें भी तो रचना तथा कार्य की दृष्टि से विभिन्न जीवों एवं वातावरण की मिली–जुली इकाई का ही स्वरूप विश्लेषण किया जाता है।[4]

वस्तुतः पर्यावरण–संतुलन के महत्त्व–प्रतिपादन के लिए ही वेदों में अनेक स्थलों पर जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि आदि का स्तवन किया गया है। ऋग्वेद में अग्नि को पिता के समान कल्याण करने वाला कहा गया है–

'अग्ने! सूनवे पिता इव नः स्वस्तये आ सचस्व।'

वेद का शुभारम्भ ही 'अग्निसतव' के स्तवन से होता है, जो सफल जीवन का निर्माता, अग्रणी नेता है। उसे स्वयं आकर समस्त परिवेश का हित करने वाला, सामाजिक संगठन का सच्चा संचालक तथा शुभदायक माना गया है।

'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।' (ऋग्वेद, 1.1.1)

अग्नि का यह स्तवन समाज–संतुलन का संकेत करता है, त्याग का महत्व प्रतिपादन करता है। त्याग से ही समाज में संतुलन बना रहता है। यहाँ 'देव ऋत्विजम्' से अभिप्राय है स्वयं उत्सुक होकर हित करना। कारण यह है कि त्याग की भावना से प्रेरित नहीं रहने पर स्वार्थ की प्रवृत्ति बढ़ती है और उससे कटुता उत्पन्न हो जाती है, जो असंतुलन का मूल कारण सिद्ध होता है।

वनस्पतियों एवं औषधियों का तथा जीवों, पक्षियों आदि के विभिन्न प्रकारों का वर्णन भी यजुर्वेद में व्याप्त पर्यावरणीय दृष्टि का ही परिचायक है। एक स्थल पर विभिन्न प्रकार की औषधियों का वर्णन करते हुए उनसे रोगनाश करने की प्रार्थना की गयी है–

याः फलिनीर्या अफला अपुश्पा याश्च पुष्पिणीः।
वृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वंहसः।।[5]

विभिन्न प्रकार के पक्षियों का वर्णन करते हुए चौबीसवें अध्याय में विभिन्न ऋतुओं में इनकी उपादेयता का वर्णन पर्यावरणीय चेतना का सशक्त उदाहरण है–

'वसन्ताय कपिंजलानालभते ग्रीष्माय कलविकांन्वर्शाभ्यस्तित्तिरींछरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककरांछिशिराय विककरान्।'

अर्थात् 'वसन्त ऋतु के लिए कपिंजल पक्षी को, ग्रीष्म के लिए कलविकों को, वर्षा के लिए तीतरों को, शरद के लिए बटेरों, हेमन्त के लिए ककर को और शिशिर ऋतु के लिए विकिकर नामक पक्षियों को प्राप्त करें।

वैदिक काल में व्यक्ति का प्रति के साथ एक भावनात्मक सम्बन्ध था, जिस कारण से वैदिक ऋषि पर्यावरण सम्बन्धी सन्तुलन बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रार्थनायें करते थे। यजुर्वेद के 36वें अध्याय में इसी शान्ति एवं संतुलन को बनाये रखने की प्रार्थना प्रति से की गयी है।

वाह्य एवं आन्तरिक इन दोनों ही प्रकार के पर्यावरण का आधार पंचतत्व–वायु, अग्नि, जल, पृथिवी व आकाश ही माने जाते हैं, इन्हें ही पंचमहाभूत कहा जाता है। इन पंचमहाभूतों से व्याप्त पर्यावरण पर ही समस्त व्यष्टि और समष्टि संसार अर्थात् मानव शरीर एवं सम्पूर्ण विश्व आधारित है। इन पंचमहाभूतों के सामंजस्य पर ही जीवन निर्भर है। इसके साथ ही वायु को पंचमहाभूतों में सर्वोपरि विश्व पर्यावरण का आधार कहकर, आकाश तत्त्व को सभी तत्वों को संवलित करने वाला कहकर, जल को मानव जीवन का मुख्य आधार कहकर, अग्नितत्त्व को पंचमहाभूतों में अन्यतम तथा सर्वातिशयी कहकर तथा पृथ्वीतत्त्व को मातृवात्सल्यमय रूप वाला कहकर इन सभी तत्त्वों के पर्यावरणवीय वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया है। वेदों में भी पर्यावरण का उल्लेख इन पाँच महाभूतों के रूप में ही हुआ है।[6]

वेदों के अनुसार स्वच्छ वायु प्राणदायिनी औषधि के समान है, जिससे हमारा जीवन स्वस्थ एवं निरोग रह सकता है। ऋग्वेद पर्यावरण उपासना के लिए विश्व वांङ्मय का आदिम एवं प्रथम ग्रन्थ है। साथ ही पर्यावरण के गम्भीर चिन्तन, गहन अध्ययन एवं जागरुक रूप से संरक्षण का भी प्रथम ग्रन्थ है। इस तरह ऋषियों ने अपनी साधना से इसका साक्षात्कार कर लिया था कि पर्यावरण रक्षा ही है 'स्वात्मरक्षा'। यथा–

यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः ततो नो देहि
जीवसे।[7]

नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्।[8]

अथर्ववेद में ऋषि ब्रह्मा ने जल को जीवा, उपजीवा, संजीवा और जीवला स्वीकार कर 'सर्वमायुर्जीव्यासम्' कहकर जल की अमूल्य महत्ता प्रतिपादित की। अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों में–

शं त आयो हैमवतीः शमु मे सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिश्यदा आपः ते सन्तु वर्ष्याः।
शं ते खनित्रमा आपः शं याः कुम्भे–भिराभृता।।[9]

विभिन्न स्थान वाले जल अपने–अपने स्थान विशेष के लाभकारी खनिजों, औषधियों व द्रव्यों जैसे–गंधक, लोहा, अभ्रक आदि से संयुक्त होकर सबके लिए प्रदूषण नाशक एवं रोगनाशक होते हैं। जल रोगनाशक है। अतः इसे सर्वोत्तम वैद्य कहा गया है।

हमारे वेद पर्यावरण संरक्षण का संदेश पग–पग पर हमें देते हैं। वेदों में वर्णित आश्रम पद्धति 'का विभाजन पर्यावरण पर आधारित था। आश्रम व्यवस्था में सम्पूर्ण मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। इन चार आश्रमों में तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तो पूरी तरह से प्रकृति के साथ ही व्यतीत होते थे। विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल सदैव वन प्रदेश एवं नदी तट पर होते थे। यहाँ पर बालक पर्यावरण के सानिध्य में पलता, बढ़ता एवं विद्याध्ययन करता था। आचार्य उसे विद्याध्ययन के साथ–साथ प्रति से ताल–मेल एवं सामंजस्य का सूत्र भी सिखाते थे। इस सन्दर्भ में संदीपनी आश्रम में श्रीकृष्ण–सुदामा का जंगलों से लकड़ियाँ लाना, वहाँ वन की कठिनाइयों से अवगत होना, विश्वामित्र का राम–लक्ष्मण को अपने यहाँ ले जाना और उद्दालक ऋषि के शिष्य आरुणि का प्रसंग सर्वविदित है। वन में श्रीराम का सीताहरण के समय पशु–पक्षियों से संवाद 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी तुम देखी सीता मृगनयनी।' श्रीराम का जटायु का अंतिम संस्कार अपने हाथ से करना, यह दर्शाता है कि भारतीय संस्कृति मानव का पशु–पक्षियों से भी संवेदनात्मक एवं भावनात्मक सम्बन्ध रखने का संदेश देती है।

वैदिक सभ्यता के ऋषियों ने अशस, पर्जन्य और नद्य सूक्तों से इसी पानी की अभ्यर्थना की है, क्योंकि इस सृष्टि का कुटुम्ब ऐसे घर में रहता है जिसका कुट्टिम और छत दोनों पानी का है। बादल, बूँदें, नहरें, नदियाँ, समुद्र सब उसी के प्रसार और विस्तार हैं–

या आपो दिव्या उत वा स्वत्वन्ति खनित्रिमा उत वा याः
स्वयंजाः
समुद्रार्था याः भाचुयः पावकास्ता आपो देविरिह
मामवन्तु।[10]

(ऋग्वेद, मण्डल 7, सूक्त 49, आप् सूक्त)

अर्थात् जो जल अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते हैं और जो जल नदी आदि के रूप में बहते हैं, जो जल नहर, कुएँ आदि के रूप में खोदने से उत्पन्न होते हैं और जो जल झरनों आदि के पवित्र कारक हैं, वे दिव्य गुणों से सम्पन्न जल इस लोक में हमारी रक्षा करें। आशय यह है कि जल प्रारम्भ भी है और प्रारब्ध भी है।

हिन्दू धर्मग्रन्थों में सृष्टि की संकल्पना समत्व पर आधारित मानी गयी है। 1500–600 ई0पू0 उपनिषदों में कहा गया है, 'इस विश्व में निवास करने वाला ईश्वर हवा, पानी, अग्नि और यहाँ तक कि पेड़ों एवं औषधियों, जड़ी–बूटियों में निवास करता है। लोगों को उसके प्रति सम्मान रखना चाहिए।' चरक संहिता में कहा गया है 'जब तक यह पृथ्वी प्रति (वन्य पौधों एवं पशुओं) से परिपूर्ण है, मानव जाति फलती–फूलती रहेगी।' ईशोपनिषद् (1500–600 ई0पू0) में कहा गया है 'अपने प्राणियों के साथ यह विश्व परमेश्वर का है। कोई भी प्राणी किसी दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। किसी एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। इसलिए तुलसीदास ने 'जड़, चेतन, जग, जीव, जल सकल राममय जानि' कहकर सबका नमन किया। हिन्दुओं में वन देवता, जल देवता, अग्नि देवता, पर्वता

जाति सम्बन्धी अध्ययन तथा भारत की सामाजिक परिस्थितियों की विवेचना

नित्यानन्द कुशवाहा*
रश्मि**

सारांश : 1. **सामाजिक संरचना का आधार**– भारतीय समाज को मुख्यतः चार भागों में जातीय संरचना के आधार पर ही बाँटा गया है। जिसमें– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र क्रमिक रूप से अपनी प्रस्थिति के आधार पर बाँटे गये हैं। निश्चित रूप से जातीय संरचना की उत्पत्ति कब हुई कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि जबसे मानव समाज में विकास की स्थिति सम्भव हुई– जातियाँ निर्मित हो गयीं।

2. **जाति की गतिशीलता**– भारतीय समाज में जाति की गतिशीलता बहुत ही कम है। सामाजिक परिवर्तन की मात्रा जितनी अधिक अन्य क्षेत्रों में दिखाई देती है उसका दशांश भी जातीय संरचना में नहीं है। संस्कृति के विभिन्न अंगों में परिवर्तन जिस शीघ्रता से हो जाते हैं उतनी शीघ्रता जातीय संरचना ग्रहण नहीं कर पाती। जाति अपनी उसी प्राचीनता के आधार पर टिकी है जिससे प्रारम्भ हुई थी।

3. **धर्म व जाति**– सामान्य रूप से हिन्दू धर्म में ही जाति को अधिक महत्व दिया जाता है तथा धर्म में जाति की कट्टरता भी अधिक अनुभव की जाती है। सम्भवतः इसी कारण व्यक्ति, विशेष से निम्न वर्ग के व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति सुदृढ़ करने का एक अच्छा अवसर मिलता है जब वह हिन्दू धर्म को त्यागकर दूसरे धर्म को ग्रहण करते हैं और इसी धर्म परिवर्तन के द्वारा वे अपनी सामाजिक प्रस्थिति ऊँची कर लेते हैं।

4. **ब्राह्मणों का प्रभुत्व**– जाति संगठन में मुख्य रूप से ब्राह्मणों को अधिक उच्च स्थान व अन्य जातियों से अधिक अधिकार प्रदत्त हैं। इन विशेषाधिकारों द्वारा ब्राह्मणों को अन्य वर्गों से श्रेष्ठ घोषित किया गया है। यहाँ तक कि आपराधिक क्षेत्रों में भी ब्राह्मण को जातीय संगठन के अन्तर्गत अन्य वर्गों से कम दण्ड दिया गया है। सामान्य रूप से एक ब्राह्मण ही किसी वर्ग या जाति के सांस्कृतिक कार्यों को (संस्कारों को) सम्पन्न कराता है परन्तु अब कानूनी रूप से कोई भी पौरोहित्य के लिए ब्राह्मणों को न चुनने के लिए स्वतंत्र है।

5. **जाति संघर्ष**– वैसे तो जातीय निर्माण का स्पष्ट आधार कहीं नहीं दिखाई देता परन्तु फिर भी सामान्यतः यह धारणा है कि ब्राह्मणों द्वारा ही जाति संगठन का निर्माण हुआ इसीलिए इस वर्ग ने अपने लिए सभी अधिकार सुरक्षित कर लिए। अतः सभी जातियों का सामान्य रूप से विरोध ब्राह्मणों से ही है। प्रत्येक निम्न वर्ग का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ग के जातियों के विरुद्ध है। यही नही जातियों में भी जो उपजातियाँ हैं वे भी आपस में प्रायः संघर्षरत रहती हैं।

6. **वर्तमान सामाजिक स्थिति व जाति**– वर्तमान भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति को धीमा नहीं कहा जा सकता परन्तु फिर भी जाति के तत्व सामाजिक संरचना में विद्यमान है। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर जाति आगामी कई वर्षों तक समाप्त होती नहीं दिखाई देती। व्यक्ति की विचारधारा में परिवर्तन कर पाना बहुत कठिन होता है। यद्यपि वह अन्य क्षेत्रों में बहुत ऊँचे विचार रखता है परन्तु संस्कारों के सम्पन्न होते समय जाति को नहीं छोड़ा जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जातीय परिवर्तन में एक प्रकार का वैचारिक विलम्बन है।

भारतीय समाज की संरचना का मुख्य आधार जाति ही है। मूल रूप से भारतीय समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति जातिगत आधार पर ही आँकी जाती है। जाति व्यवस्था की जड़ें भारतीय समाज में इतनी अधिक गहराई तक जमी हुई है कि उन्हें पृथक कर भारतीय समाज का अध्ययन कर पाना असम्भव सा हो गया है। मूलतः भारतीय वेदशास्त्र में जातियाँ चार प्रकार की बताई गई हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो वर्णों व जातियों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं। सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उल्लिखित एक मंत्र द्वारा उपर्युक्त चारों वर्णों की उत्पत्ति स्पष्ट है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

उक्त चार श्रेणियों के नाम वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र दिए गए हैं जो क्रमशः स्रष्टा या विधाता के मुख, भुजाओं, जंघाओं तथा पैरों से निकली हुई बताई जाती हैं। इन भागों का विभिन्न अंगों से सम्बन्ध जुड़ने तथा जिस क्रम से उनका उल्लेख होता है उससे सम्भवतः उस समय के समाज में उनकी प्रस्थिति का संकेत प्राप्त होता है।[1]

जाति व्यवस्था में गतिशीलता की मात्रा यद्यपि अन्य क्षेत्रों में होने वाली गतिशीलता की मात्रा से भिन्न होती है यदि इसे मैं कम ही कहूँ तो उचित होगा क्योंकि अन्य क्षेत्रों में परिवर्तनशीलता अधिक पाई जाती है। भारतीय समाज की अन्य परम्पराओं, प्रथाओं, रीति–रिवाजों की भाँति इसमें उतना अधिक परिवर्तन नहीं हो पाया है। यद्यपि ब्रिटिश शासन काल में भारतीय समाज की जातीय व्यवस्था को परिवर्तित करने की चेष्टा की गई परन्तु उसका आधार स्वैच्छिक न होकर वैधानिक था। वैधानिक स्तर पर केवल प्रशासन, शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा तो लागू किए जा सकते हैं परन्तु समाज में जातीय स्थिति में परिवर्तन कर पाना असम्भव सा प्रतीत होता है। यदि विधान एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन का अधिकार दे दे तब तो मान्य है परन्तु इसका आधार केवल जन्मगत ही होता है। अतः कानून यहाँ पर असहाय है हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि कानून जाति व्यवस्था में छिपी हुई निर्योग्यताओं की ओर संकेत देते हुए अपने कुछ प्रावधान दे दे।

उदाहरणार्थ डॉ0 घुरिये के अनुसार थोड़े से अपवादों को छोड़कर हिन्दुओं की सभी जातियों के पुरोहित के रूप में कार्य करने का ब्राह्मण का वंश परम्परागत तथा सनातन अधिकार एक सा बना रहा और यह सामान्य

सिद्धान्त जाति समाज में इसकी सभी उथल–पुथल के दौरान पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा। उच्च न्यायालयों के कुछ निर्णयों ने ब्राह्मण जातियों में इतना साहस कर दिया कि इन्होंने ब्राह्मणों को उनके पौरोहित्य के एक स्वत्वाधिकार से हटा दिया। बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में सामान्यतः अब निश्चित सा है कि कानून की दृष्टि से पुरोहित के जैसा कोई पद मान्य नहीं है और कोई भी गृहस्थ किसी व्यक्ति को किसी पुरोहित कार्य के लिए नियुक्त कर सकता है।[2] परन्तु इन निषेधों की मान्यता के लिए कोई बाधा नहीं।

भारतीय समाज में ऐसा प्रतीत होता है कि जाति संघर्ष केवल दो ही गुटों में रहा है। गुट का एक पक्ष जिसमें केवल ब्राह्मण है तथा गुट के दूसरे पक्ष में सभी वर्ग– क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र हैं। विभिन्न अध्ययनों से स्पष्ट है कि अन्य वर्गों का विद्वेष जातीय आधार पर केवल ब्राह्मणों से ही हैं। गैर ब्राह्मण आन्दोलन की विचारधारा इस बात का प्रमाण है जिसकी स्थापना 1925 में ई0वी0 रामास्वामी नेक द्वारा हुई पर इसके बीज पड़े थे बहुत पहले सत्यशोधक समाज में जिसकी स्थापना 1873 में महाराष्ट्र में पूना के माली जाति के नेता ज्योतिबाराव फुले ने की थी। सत्यशोधक समाज का लक्ष्य था जातीय भेदभाव बिना मानव व्यक्ति के महत्व पर बल देना। फुले विवाह कराने के लिए ब्राह्मण पुरोहित को बुलाने के विरुद्ध थे।[3] वर्ग विशेष व जाति विशेष का जाति विशेष से वैमनस्य होना भी स्वाभाविक हो सकता है परन्तु कोई शासक दल ही वर्ग या जाति विशेष से भयभीत हो यह असम्भव प्रतीत होता है परन्तु 1910 से 1920 तक के दशक में भारत में अंग्रेजों के एक वर्ग ने ब्राह्मण को ही अपने चरम शत्रु मान लिया। सबसे पहले तो 1910 में वैलेप्टाइन किरोल की पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' प्रकाशित हुई जिसकी मुख्य स्थापना थी कि ब्राह्मणवाद और पश्चिमी शिक्षा से भारत में अंग्रेजी शासन को गम्भीर खतरा है। दूसरा था 1918 में रौलट रिपोर्ट (भारत में क्रान्तिकारी षडयन्त्रों की जाँच के लिए नियुक्त समिति की रिपोर्ट का प्रकाशन) जो "निश्चित रूप से यह सिद्ध करती थी कि बम्बई में क्रान्तिकारी षड्यन्त्र सर्वथा ब्राह्मणों और अधिकांशतः चितपावन ब्राह्मणों का था और भारत के अन्य स्थानों में भी क्रान्तिकारी अपराधों को उकसाने और पूरा करने में ब्राह्मणों का बड़ा हिस्सा था।[4]

जातीय संरचना में परिवर्तन लाने हेतु सामाजिक स्तर पर निर्मित होने वाले अनेक धर्मों, सम्प्रदायों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पंजाब में शुद्धि आन्दोलन द्वारा अछूतों की स्थिति सुधारने के लिए एक अलग समाज की स्थापना भी की गई। सिख धर्म में कई नीची जातियों को प्रबल रूप से गतिशीलता का रास्ता मिला। "अकाली आन्दोलन की धर्म परिवर्तनकारी गतिविधियों ने बहुत से लोगों को विशेषकर मेहतरों को वापस हिन्दू होने के बजाय सिख बनने की ओर प्रवृत्त किया। नीची जातियों के लोग दस्तकार और दूसरे कामों में लगे हुए समूहों को स्पष्ट ही लगता था कि हिन्दू के बजाय सिख बनते ही उनका दर्जा ऊँचा हो जाता है.... ।"[5]

वर्तमान भारतीय समाज में जाति के वे प्राचीन आधार समाप्त हो रहे हैं जो कि सामाजिक प्रगति में बाधक हैं। अस्पृश्यता एवं खान–पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध अभी समाप्त हो रहे हैं। निम्न वर्ग विशेष रूप से अस्पृश्य जातियों को संवैधानिक स्तर पर बढ़ने का प्रोत्साहन मिल रहा है। डा0 गोविन्द सदाशिव घूरिये द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय समाज में कुछ समूह बिल्कुल पिछड़ी दशा में होने से उनकी ओर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है इसलिए विधान उनके मामलों को अपवाद स्वरूप मानकर उनके लिए विशेष योजना निर्धारित करता है। ऐसे समूह तीन श्रेणियों के हैं जिनके लिए विशेष व्यवहार की आवश्यकता है। प्रथम– तथाकथित आदिवासी या पर्वतीय जनजातियाँ, द्वितीय– उन समूहों की श्रेणियाँ हैं जो पहले जाति समाज में अस्पृश्य के नाम से विख्यात हैं और जिन्हें अब अनुसूचित जातियों की उपाधि दी गयी है। तृतीय विधान अपने अनुच्छेद 16 खण्ड 4 में "नागरिकों के एक पिछड़े वर्ग" को मान्यता देता है जिन्हें राज्य की किन्हीं ऐसी सेवाओं में विशेष भारती की आवश्यकता है जिनमें "राज्य के मत में उनका प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है।"[6]

सामाजिक स्तर पर तकनीकी ज्ञान ने अस्पृश्यता निवारण में अधिक योगदान दिया है यथा यातायात के साधनों का प्रयोग करते समय व्यक्ति इस बात का विचार किये बिना कि अमुक किस जाति का है उसके पास बैठ जाता है। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने जातिगत बन्धनों को समाप्त करने में अधिकाधिक योगदान दिया है। जाति प्रथा निःसन्देह परिवर्तित हो रही है और हिन्दुओं के एक भाग ने इस परिवर्तन को कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार भी किया है तथा इस परिवर्तन में उदारतापूर्वक सहयोग भी किया है। प्रगतिवादी तत्वों ने न केवल इन परिवर्तनों का स्वागत किया है अपितु इनमें कुछ संशोधनों का भी सुझाव दिया है। जाति का आधार वर्तमान समय में भी जन्म ही है परन्तु अनेक व्यवसाय सम्बन्धी तथा सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने के लिए सभी वर्गों को छूट आदि इसके विद्वेष को समाप्त करने में सहायता कर सकते हैं।

सन्दर्भ–

1. जाति वर्ग और व्यवसाय – जी0एस0 घुरिये, पृ0 39
2. वही, पृ0 161, 162
3. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम0एन0 श्रीनिवास, पृ0 114
4. वही, पृ0 116
5. वही, पृ0 110
6. जाति वर्ग और व्यवसाय – जी0एस0 घुरिये, पृ0 28

●●●●

*शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, डॉ0 राममनोहर लोहिया अवध वि0वि0, फैजाबाद (उ0प्र)

**शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वि0वि0, वाराणसी (उ0प्र)

गाँधीजी की अहिंसक क्रांति और वर्तमान विश्व

मनोज कुमार सिंह

हिंसक सोच की आँधी से त्रस्त इस विश्व में महात्मा गाँधी के अहिंसक क्रांति संबंधी विचार उस शरणस्थल की भांति प्रतीत होते हैं जहाँ विश्व शांति की उम्मीद दिखाई देती है।

गाँधीजी अहिंसा के अनुप्रयोग को वैश्विक शांति व सौहार्द्र को सुनिश्चित करने वाली अनिवार्य व अपरिहार्य शक्ति मानते थे।

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है हिंसा नहीं करना। गाँधी जी के अनुसार मन, वचन, कर्म से किसी को कष्ट नहीं देना ही अहिंसा है। वे अहिंसा के इस अर्थ के साथ–साथ अहिंसा को भावात्मक अर्थ में भी स्वीकार करते थे। उनके अनुसार, अहिंसा अपने क्रियात्मक रूप में सभी जीव धारियों के प्रति सद्भावना का भाव है यह सक्रिय प्रेम है। उनका कहना है– "अहिंसा को जैसे स्थूल वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है यह वैसी वस्तु नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना अहिंसा का अंश है किन्तु यह इसकी न्यूनतम अभिव्यक्ति है। अहिंसा का सिद्धांत प्रत्येक अशुभ विचार, अनुचित शीघ्रता, झूठ बोलने, घृणा करने, किसी भी व्यक्ति की बुराई की इच्छा करने से खंडित होता है। यह उस वस्तु को जिसकी संसार को अपेक्षा है, बाधित करने से भी भंग होता है।"[1] किन्तु गांधीजी सामान्य परिस्थितियों में अहिंसा के पालन को अपरिहार्य मानते हुए भी कुछ विशेष परिस्थितियों में इसके परित्याग को वांछनीय मानते हैं। उनका कथन था– "दुनिया केवल तर्क से नहीं चलती, जीवन में किस हद तक हिंसा है इसलिए हमें न्यूनतम हिंसा का रास्ता अपनाना पड़ेगा जिसे हम सत्य समझते हैं उसके लिए हम लड़ेंगे पर कमजोर, कायरता और आरामतलबी के कारण हिंसा से बचने की कोशिश नहीं करेंगे।"[2]

गांधीजी अहिंसा के पालन के लिये नैतिक व आध्यात्मिक बल आवश्यक मानते हैं। उन्होंने कहा है– "अहिंसा बलवानों का अस्त्र है। यह निर्बलों के लिये एक दिखावटी वस्तु हो सकती है। भय और प्रेम एक–दूसरे से परे हैं। प्रेम करने वाला यह नहीं सोचता है कि उसका बदला क्या मिलेगा। प्रेम का युद्ध स्वयं अपने से और सारे संसार से होता है और अंततः दुनिया के सभी प्रकार के विकारों पर इसकी विजय होती है।"[3]

निस्संदेह गांधीजी के उपर्युक्त विचार में अहिंसक क्रांति का स्वर निहित है। गांधीजी ने एक बार कहा था– "कुछ लोगों का कहना है कि मैं अपने समय का सबसे बड़ा क्रांतिकारी हूँ। मुमकिन है मेरी बात गलत हो किन्तु मैं अपने आपको एक क्रांतिकारी मानता हूँ। मैं अहिंसात्मक क्रांतिकारी हूँ। असहयोग मेरा साधन है।"[4]

प्रश्न उठता है कि क्रांति की आवश्यकता क्यों है?क्रांति सामाजिक परिवर्तन का साधन है। दादा धर्माधिकारी कहते हैं कि समाज परिवर्तन हम इसलिए चाहते हैं क्योंकि मनुष्य को जो सदा प्राप्त है, उससे वह असंतुष्ट रहता है। वह परिवर्तन चाहता है। वस्तुतः सामाजिक क्रांति का प्रतिफल सामाजिक ढांचे में या उसके किसी महत्वपूर्ण भाग में व्यापक परिवर्तन है।

दादा धर्माधिकारी का मानना है कि 'अहिंसक क्रांति' समझने और समझाने की ही क्रांति है। पहले हम समझेंगे और बाद में समझायेंगे। निहितार्थ यह है कि समाज–परिवर्तन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिये, जिससे दूसरी प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो, अर्थात् क्रांति का प्रत्युत्तर प्रति–क्रांति न हो। इसकी कुंजी हृदय–परितर्वन है। हृदय परिवर्तन की यह प्रक्रिया दूसरे के हृदय को स्पर्श कर बदलने की प्रक्रिया है। इसमें सत्याग्रही और प्रतिपक्षी दोनों का हृदय परिवर्तित होता है और इस परिवर्तन का आधार बनती है सत्याग्रही की आध्यात्मिक व नैतिक शक्ति।

कार्ल मार्क्स ने भी सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य स्वीकार किया था किन्तु उसने उस लक्ष्य के साधन स्वरूप हिंसक क्रांति का मार्ग चुना, जबकि गांधीजी का लक्ष्य अहिंसक क्रांति द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना था जिसमें शोषण, अन्याय, गरीबी व हिंसा के लिए कोई स्थान न हो और जिसमें व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता व समानता सुनिश्चित हो। गांधीजी का मानना था कि हिंसा द्वारा लाया गया परिवर्तन अल्पस्थाई व आंशिक होगा जबकि अहिंसक क्रांति द्वारा लाया गया परिवर्तन ही पूर्ण, वास्तविक तथा स्थाई हो सकता है।

महात्मा गांधी का कथन है– "मेरे लिये तो सत्य और अहिंसा को छोड़कर और किसी साधन से आशा नहीं है। मैं जानता हूँ कि जब सब कुछ असफल होगा तक वे सफल होंगे। इसलिए चाहे मैं एक ही की लघु संख्या में रह जाऊँगा या मेरी ओर बहुमत हो, मैं तो उसी राह पर चलूँगा जो मुझे जान पड़ता है कि ईश्वर दिखा रहे हैं। केवल सामाजिक नीति के रूप में तो वैसी नीति के रूप में तभी कारगर हो सकती है जबकि हमारे बीच इसके विरूद्ध चलने वाली शक्तियां न हों। किन्तु जब हमारा उनसे सामना पड़ता है तो हिंसा से विशेष स्थितियों में कामचलाऊ नीति के रूप में अहिंसा का सहारा टूट जाता है। अहिंसा में पूर्ण विश्वास को विश्वास की कसौटी का समय तभी आता है इसलिए मैं और मेरे विश्वास दोनों ही आज कसौटी पर परखे जा रहे हैं और यदि हम सफल होते न मालूम पड़े तो आलोचक मेरे ध्येय को दोष देने के बदले हमें दोष दें। मैं जानता हूँ कि कभी–कभी मैं अपने ध्येय के विरूद्ध लड़ने को लाचार हो जाता हूँ। अब तक मैं ऐसा नहीं बन सका हूँ कि हिंसा का विचार भी न कर सकूँ। किन्तु परमात्मा की दी हुई सम्पूर्ण शक्ति लगा कर मैं प्रयत्न कर रहा हूँ।"[5]

जननायक महात्मा गांधी तथा उनके सिद्धांत आज

21वीं सदी में और भी अधिक प्रासंगिक होते जा रहे हैं। एक ओर प्रगति व विकास के उफान तथा दूसरी ओर विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों से घिरा विश्व त्राण के लिए सम्यक् व व्यावहारिक समाधान का आकांक्षी है। हिंसा की लपटों से घिरी दुनिया को शांति की दरकार है। ऐसे में महात्मा गांधी का अहिंसक क्रांति का सिद्धांत कारगर औषधि का कार्य कर सकता है। गांधी जयन्ती को यू. एन. ओ. द्वारा 'विश्व अहिंसा दिवस' का दर्जा दिया जाना इस बात की ओर इंगित करता है कि विश्वपर्यन्त गांधी जी के विचारों में विश्वास तथा सम्मान बढ़ता जा रहा हैं सारी दुनिया में जटिल तात्कालिक व दीर्घकालिक महत्व की समस्याओं से जुड़े मंथन में दृष्टि कहीं न कहीं गांधी की ओर उठ रही है।

गांधी की अहिंसा दृष्टि दुनिया भर में शांतिपूर्ण राजनैतिक कार्यशैली के रूप में स्वीकार्य बनी हुई है। आतंकवाद और हिंसा के वर्तमान दौर में जब राज्य शक्तियों की संगठित सैन्य शक्तियां भी तुच्छ प्रतीत हो रही हैं, गांधी की यह दृष्टि पुष्ट होती है कि राज्य शक्ति व सैन्य शक्ति का विकास ही शान्ति की गारण्टी नहीं हो सकता। ऐसे में तो गांधी की अहिंसक क्रांति या समझने और समझाने तथा मानने और मनाने की नीति ही सफल हो सकती है। गांधी के इस विचार में एक मौलिक सूझ तथा दूरदर्शिता दिखाई पड़ती है जिसके आलोक में नक्सलवाद, आतंकवाद, अलगाववाद जैसी मानव–विरोधी तथा हिंसक गतिविधियों का समाधान तलाशा जा सकता है। निस्संदेह विश्व भर में ऐसे समाधानों के प्रति चेतना विस्तृत हो रही है।

अफगानिस्तान, सोमालिया, इराक, लीबिया, सूडान की घटनायें स्पष्ट करती हैं कि गांधीजी की यह बात सारतः सही है कि हिंसा से हिंसा और बढ़ती है। हिंसा को शांति व सामाजिक परिवर्तन का साधन नहीं बनाया जा सकता।

इसी प्रकार आतंकवाद, नक्सलवाद व माओवाद जैसे मुद्दे मात्र कानून व्यवस्था से जुड़े मसले नहीं हैं। कहीं न कहीं ये मूल संसाधनों और उपभोग की लड़ाई भी है। इसलिए इनके समाधान के लिए आधारभूत कारणों को समझना और उनका निराकरण करना होगा। संसाधनों व विकास के असमान वितरण व तद्जन्य घृणा के भाव का समाधान करना होगा।

वस्तुतः आज हमारे समक्ष उपस्थित लगभग सभी समस्याओं व जटिल प्रश्नों का उत्तर गांधी दर्शन व सिद्धांतों के प्रकाश में मिल सकता है। यही कारण है कि गांधी वर्तमान युग में और अधिक प्रासंगिक हो गये हैं। गांधी दर्शन की महत्ता व प्रासंगिकता व्यक्त करते हुये आचार्य बिनोवा भावे ने ठीक ही कहा था कि "आज नहीं तो कल दुनिया को अहिंसा का मार्ग अपनाना ही होगा, आज जो हमारे साथ नहीं हैं उन्हें कल साथ आना ही होगा अब ऐसा जमाना आएगा कि सारे समाज को शांति एवं प्रेम की प्यास लगेगी और सारा जमाना यह सोचेगा कि शांति में ही समस्या का निदान है, शांति में ही शक्ति है। सारा समाज न भय के कारण न लोभ के कारण बल्कि प्यास की पूर्ति के लिए जब शांति चाहेगा तब सर्वोदय होगा।"

सन्दर्भ–

1. यंग इंडिया, 4/11/1926, पृ0 384
2. यंग इंडिया, 28 सितम्बर, 1927
3. हिन्दी नवजीवन (साप्ताहिक) 27 अगस्त, 1924, अहमदाबाद
4. यंग इंडिया, 26.11.31
5. हिन्दी नवजीवन, 8.12.1927

●●●●

शोधछात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ग्रामीण परिवारों में गर्भवती महिलाओं के आहार सम्बन्धी अवधारणा का अध्ययन (देवरिया जनपद के संदर्भ में)

अंजना जायसवाल*

सारांश– ग्रामीण समुदाय में पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों के स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया जाता है। इसके अनेक परम्परागत कारण है जिनका उल्लेख इस शोध कार्य के क्षेत्र से बाहर था। लगभग (80 प्रतिशत) परिवारों में गर्भवती स्त्रियों के लिए भोजन की विशेष व्यवस्था नहीं हैं। बीमार होने पर भी उन्हें तुरन्त कुशल इलाज के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है घरेलू इलाज व झाड़–फूंक में काफी समय बिता दिया जाता है परिणाम यह होता है कि उनका रोग चिरकालिक बन जाता है। गर्भावस्था का स्त्रियों के स्वास्थ्य से गहरा सम्बन्ध है किन्तु इस अवस्था में विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता है। गर्भावस्था में गर्भिणी स्त्री की देख–रेख करना स्वास्थ्य की कसौटी है। जिस परिवार में ऐसी स्त्री पर विशेष ध्यान दिया जाता है वह परिवार स्वास्थ्य–संस्कृति में उतना ही ऊपर माना जायेगा। यदि उसकी उपेक्षा की जाय तो स्वास्थ्य–संस्कृति उतना ही नीचे होगा। अधिकांश ग्रामीण परिवारों में गर्भिणी स्त्री की वैज्ञानिक दृष्टि से देख–रेख नहीं की जाती है, उसके भोजन व आराम पर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता है।

प्रस्तावना– हमारे देश में माँ एवं शिशु के स्वास्थ्य का मुद्दा सभी के लिये चिन्ता का विषय है। भारत में गर्भवती महिलाओं का स्वास्थ्य सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, क्षेत्रीय आदि अनेक कारणों से प्रभावित होता है। 15 से 49 वर्ष के मध्य गर्भवती होने वाली महिलाओं में से लगभग (88 प्रतिशत) महिलाएं रक्त की कमी (एनीमिया) की शिकार है। अधिकांश प्रसव के दौरान मातृ–मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं।

1. Menon (1965) ने मद्रास में किये गये गर्भवती महिलाओं के सर्वे के आधार पर बताया कि 20 प्रतिशत महिलायें जो रक्ताल्पता से पीड़ित हैं वे गर्भकाल के दौरान ही मृत्यु की शिकार हो जाती हैं और 20 प्रतिशत महिलाओं के लिए गर्भस्थ शिशु की अस्वस्थता व स्वयं रोग का शिकार हो जाती हैं। बाल मृत्यु दर के लिए रक्ताल्पता सबसे प्रमुख कारण है।

2. Rafale and Molina (1974) ने सर्वे किया कि रक्त में लाल रक्त कणिकाओं में Folate का स्तर यदि 160 ml/ml से कम होता है तो गर्भावस्था में खून की कमी से सम्बन्धित बीमारियां अवश्य होती हैं।

महिलाओं के स्वास्थ्य विकास का अर्थ है उनका उचित शारीरिक व मानासिक विकास। बालिकाओं के स्वास्थ्य का तात्पर्य है भविष्य की माताओं का स्वास्थ्य। साधारणतया महिलाओं के स्वास्थ्य का मतलब है जच्चा–बच्चा का स्वास्थ्य। उसके स्वास्थ्य की चिन्ता परिवार तब करता है जब बच्चे नवजात हो और सरकार तब करती है जब बच्चे रोकने हो। उससे आगे–पीछे पहले–बाद में महिला स्वास्थ्य के साथ कोई सरोकार नहीं होता, जबकि यह सरोकार उसके पैदा होते ही शुरू हो जाना चाहिए।

3. "गर्भावस्था में कुपोषण का भ्रूण के विकास व उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है इस स्थिति में मोटापा, मधुमेह और हृदय रोग जैसी बीमारियाँ बढ़ जाती हैं।" प्रो0 माईकल साइमन Michael Symonds Academic Division of Child Health at Nattingnam University Medical School ने अपने अध्ययन में कहा है कि गर्भावस्था में माँ जैसा भोजन लेती है और कितनी मात्रा में लेती है इसका प्रभाव बच्चे के पूरे जीवन काल में उसके अच्छे स्वास्थ्य व बुरे स्वास्थ्य का परिचायक है।

4. Dr. Julie Mennella ने अपने अध्ययन के आधार पर कहा है कि "गर्भावस्था के दौरान जो भी गर्भवती महिलायें अपने आहार में सुगन्धित खाद्य पदार्थ या तीव्र गन्ध वाले खाद्य पदार्थ लेती हैं वैसा ही गन्ध वाले खाद्य पदार्थ बच्चे भी पसन्द करते हैं।"

कहा जाता है कि "जैसा तुम बोओगे वैसा ही तुम काटोगे" स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है। एक स्वस्थ माँ ही स्वस्थ शिशु को जन्म दे सकती हैं और स्वस्थ शिशु के जन्म के लिए माँ का पूरी तरह स्वस्थ होना आवश्यक है। गर्भधारण के बाद यदि कोई माँ कुपोषित रहती है, रक्तहीनता के रोग से पीड़ित रहती है या संक्रामक रोगों से ग्रसित हो जाती है तो इसका दुष्प्रभाव गर्भ में पल रहे शिशु पर भी पड़ता है जन्म के बाद रोगी कमजोर और कुपोषित गर्भवती माताओं के शिशु भी दुर्बल और अस्वस्थ रहते हैं और जन्म के बाद अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते है। इसके अतिरिक्त अधिकांश दुर्बल और रोगी मातायें भी प्रसव के समय मर जाती है।

5. Harvard यूनिवर्सिटी में किये गये अध्ययन के अनुसार स्वस्थ शिशु के जन्म के लिए यह आवश्यक है कि गर्भावस्था में 75 gm. प्रोटीन प्रतिदिन लिया जाये। तथा प्रतिदिन 6 से 8 ग्लास शुद्ध पानी पीया जाये।

6. अमेरिकन मेडिकल एसोशिएसन (अप्रैल 1996) के अध्ययन के अनुसार गर्भवती महिला के शरीर के आवश्यकताओं के अनुसार प्रोटीन, नमक, पोटेशियम, सोडियम, कैल्शियम व पानी की सन्तुलित मात्रा होनी चाहिए तभी स्वस्थ शिशु का जन्म होगा। इसके साथ–साथ विटामिन–बी, फोलिक एसिड 400mg/प्रतिदिन लेना चाहिए इसकी प्राप्ति के लिए साबुत अनाज, खट्टे फलों, हरी पत्तेवाली सब्जियों का सेवन किया जा सकता है।

शोध प्रारूप व अध्ययन विधि– नैदानिक परीक्षण के लिए पोषण की कमी से उत्पन्न लक्षणों का परीक्षण किया गया तथा गर्भवती महिलाओं के आहार सर्वेक्षण के लिए साक्षात्कार विधि का प्रयोग हुआ जिसके आधार पर अनुपूरक पोषाहार की गुणवत्ता का अध्ययन हुआ।

अध्ययन विधि के अन्तर्गत अध्ययन हेतु प्रश्नावली बनाकर गर्भवती महिलाओं द्वारा साक्षात्कार के माध्यम से पूरित

की आवश्यकता है। उसमें सामान्य विज्ञान एवं स्वास्थ्य–विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक लेख प्रकाशित होते थे। माता–शिशु स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त ज्ञानवर्द्धक लेख प्रायः प्रकाशित होते थे।

हिन्दू सुन्दरी' की सम्पादक श्रीमती रामाबाई ने समाज में स्त्रियों के स्थान की चर्चा करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने के लिए योग्यता की आवश्यकता होती है। योग्यता शिक्षा से मिलती है। इसलिए स्त्रियों को सुशिक्षित होकर अपनी योग्यता के आधार पर सम्माननीय स्थान पाना है। 'हिन्दू सुन्दरी' के 1911–1914 की पत्र–पत्रिकाओं में स्त्रियों की प्रगति को रेखांकित करते हुए अनेक लेख लिखे गये। इस पत्रिका में स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षा में सफल होने वाली महिलाओं के फोटो भी प्रकाशित किये गये।

तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में स्त्रियाँ निबन्ध, कहानी, कविता आदि साहित्यिक विधाओं की रचना के साथ पुस्तक समीक्षाएं भी लिखने लगी थी जिससे उनकी साहित्य के मूल्यांकन की क्षमता का भी पता चलता है। इन पत्र–पत्रिकाओं में एक महत्वपूर्ण विधा का श्रीगणेश स्त्री–लेखन में हुआ– फीचर लेखन। पत्रिकाओं में पत्र–शैली में 'शारद–लेखक' प्रकाशित होने लगा जिसमें स्त्री की समस्याओं एवं संघर्षों पर विचार विमर्श किया जाता था। 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका के (1939) अंक में सिन्ध लेजिस्लेषन में दहेज प्रथा के विरोध में कानून पास करने के लिए प्रशंसा करते हुए सन्देह व्यक्त किया कि 'शारदाबिल' के होते हुए बाल विवाह हो ही रहे तो इस कानून का कैसा असर होगा। उनको पता था कि समाज अलिखित शासनों से परिचालित होता है। इसलिए उनके विचार में समाज में व्यक्तियों के मनो परिवर्तन की आवश्यकता है। इस तरह के विचार श्रीमती वरलक्ष्मी के जागरूक दृष्टि के परिचायक है। 70 वर्ष के बाद भी समाज में दहेज–प्रथा का उन्मूलन नहीं हुआ और उसकी जड़े और गहरी हो गयी। लड़कियों को अग्नि की आहुति बनने की नौबत तक आ गयी है।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान महिला पत्रिकाओं में राष्ट्रीय चेतनाभरे लेखों का प्रकाशन होने लगा था। मतदान का महत्व, स्वराज, खादी, चुनाव आदि विषयों के साथ इंग्लैण्ड का उदाहरण देते हुए भारतीय स्त्री समुदाय को हर क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देने लगी। "स्वराज्य प्राप्ति और महिलाओं के कर्तव्य" (आन्ध्र पत्रिका 1925) शीर्षक लेख में लिखा गया– स्त्रियों को समझना चाहिए कि स्वराज्य का तात्पर्य क्या है?स्वराज्य की मांग क्यों करना है?क्या हम स्वराज्य के योग्य है?स्वराज्य कैसे प्राप्त करना है? किससे प्राप्त करना है?आदि प्रश्नों के सन्दर्भ में गंभीर विवेचन करते हुए श्रीमती वरलक्ष्मी अम्मा ने विचार व्यक्त किये कि भारत की प्रगति महिलाओं के हाथ में है। श्रीमती कनकवल्ली के अनुसार स्त्री अगर पुरुष के समतुल्य बनना चाहती है तो उसे राजनीति में प्रवेश करना चाहिए। कमला रत्नम् के मत में स्त्रियों को राजनीति में प्रवेश लेना ही नही अपनी समस्याओं के बारे में प्रस्ताव भी पारित कराना चाहिए।

1937 में मद्रास शासन सभा के अध्यक्ष अम्मन्व राजा का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है– "राजनीति को स्त्रियों के अन्य क्रियाकलापों से अलग नहीं समझना चाहिए। महिलाएं राजनीति में सक्रिय रहने के लिए अपने समय को व्यवस्थित कर लेंगी क्योंकि वे अपना कुछ समय गृहकार्यों से निकालकर सामाजिक कार्यक्रमों में लगा रही हैं। इसलिए महिलाओं को राजनीति में प्रवेश करना चाहिए।"

किन्तु 1946 में जब श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख के चुनाव के दौरान शासन सभा में स्त्रियों की अधिक भागीदारी के लिए समर्पित विज्ञप्ति को कांग्रेस ने यह करते हुए खारिज किया कि वे (स्त्रियाँ) पूरी देश भक्ति के साथ चुनाव प्रचार में भाग लें। चुनाव के बाद 'आन्ध्र महिला' पत्रिका में चुनाव परिणामों की समीक्षा करते हुए श्रीमती दुर्गाबाई ने प्रश्न किया कि सरकारों में महिलाओं की भागीदारी क्या होगी? केवल झूठी प्रशंसा से कुछ लाभ नहीं है। उन्होंने प्रस्ताव रखा जहाँ कांग्रेस की सरकारें बनीं वहाँ स्त्रियों को स्वास्थ्य मंत्री का पद दिया जाय।" अज्ञान के अंधकार से निकल कर जन स्त्री ने प्रश्न करना प्रारंभ किया तब पुरुष की विवक्षा पुनः समाज में प्रबल होने लगी। समय साक्षी है स्वतंत्रता के साठ साल के ऊपर हो गये फिर भी आधी आबादी केवल 33 प्रतिशत के लिए भी संघर्ष कर रही है।

इस क्रम में दो 'आन्ध्र महिला' पत्रिका जो श्रीमती दुर्गाबाई (दंश मुख बाद में बनी) ने 1944 से प्रकाशित करना आरंभ किया वह निरन्तर चलती रही श्रीमती दुर्गाबाई, जो स्वयं बाल विधवा थीं अपने समय की सभी महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाओं में स्त्री ने समस्याओं एवं स्त्री अधिकारों के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा।

कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएं थीं– "स्त्री धर्म" (1917) संपादक श्रीमती मालती पटवर्धन, "सौन्दर्यवल्ली" (1919) संपादक गाडिचर्ल रामाबाई। कुछ पत्रिकाएं स्त्रियों के लिए निकली थी और संपादक महिलाएं थीं और कुछ पत्रिकाओं के सम्पादक पुरुष थे। आन्ध्र लक्ष्मी (1921) हिन्दू युवती (1943) भारत महिला (1925) गृहलक्ष्मी (1927) विश्वज्ञानी, यशोदा (1930)।

उपर्युक्त सभी पत्रिकाओं में स्त्री शिक्षा सम्बन्धी लेखों के साथ–साथ समाज में स्त्री का स्थान, स्त्री के अधिकार, स्त्री आन्दोलन, सुधारवादी चेतना, स्त्री के अधिकार, स्त्री आन्दोलन, सुधारवादी चेतना के साथ बाल विवाह एवं बहुविवाह का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन आदि के सम्बन्ध में स्त्रियों के महत्वपूर्ण लेख छपते थे। इतना ही नहीं इन पत्रिकाओं के संपादकीय सुविचारित एवं प्रेरणादायक होते थे। विज्ञप्तियाँ, लेख, धारावाहिक उपन्यास, नाटक, कहानी, फीचर पत्र आदि प्रकाशित होते थे जिनके कारण आन्ध्र के साहित्य में अनेक महिला साहित्यकारों का पदार्पण हुआ। आन्ध्र की महिलाओं के चिन्तन को प्रभावित कर उन्हें जागरूक बनाने का महत्वपूर्ण कार्य इन पत्रिकाओं द्वारा हुआ। इन पत्रिकाओं ने स्त्रियों की एक ऐसी पीढ़ी को तैयार किया जो स्त्री शिक्षा का महत्त्व जानती थी, दकियानूस नहीं थी, विचारों में प्रगतिशील थी, सन्तान को कुशलता के साथ जागरूक बनाने में बहुत हद तक सफल रही। स्त्री प्रगति में पत्रकारिता का बड़ा योगदान रहा।

●●●●

उस्मानिया विश्वविद्यालय